

२

जाति-धर्म-भाषा  
की साम्प्रदायिकता



## भोर की वह किरण कहां है?

आज से लगभग ५७ साल पहले लाहौर में रावी के तट पर पूर्ण स्वराज्य की मांग की गई थी। आज वह घटना भले ही पुरानी पड़ गई हो, लेकिन २६ जनवरी को गणतंत्र दिवस के अवसर पर हम उसी घटना को याद करते हुए मन ही मन देश की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने का संकल्प लेते हैं। कितने त्याग-बलिदान, कितने भीषण संघर्ष और कितनी शारीरिक और मानसिक पीड़ा से गुज़र कर हमने स्वतंत्रता का स्वर्ण-विहान देखा था। आज यह याद भी ४० साल की आज़ादी के बाद धुंधली पड़ गई है। लोकतंत्र की आदर्श शासन प्रणाली को हमने स्वीकार किया था और अपने संविधान में मानव मात्र की समानता को स्वीकार किया था। देश को समाजवादी धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र घोषित किया था और प्रत्येक देशवासी के लिये समान शिक्षा, समान न्याय और समान अवसर की कल्पना की थी। उस व्यवस्था पर और अपने संविधान-निर्माताओं पर गर्व होना स्वाभाविक था। पर स्वाधीनता की उषा बेला में जो स्वप्न हमने संजोये थे वे आज कहां हैं? गणतंत्र दिवस के अवसर पर जब उन स्वप्नों को याद करते हैं तो यथार्थ की कठोर चट्टान पर वे धराशायी होते दिखाई देते हैं।

हृदय पर भारी पत्थर रखकर हमारे नेताओं ने देश का विभाजन स्वीकार किया था और एक तरह से सिर काट कर हमने सिर दर्द की दवा मोल ली थी। सोचा था कि अब देश में पुनः साम्प्रदायिकता और अराष्ट्रीयता का ज़हर नहीं उभरेगा। परन्तु जिस धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को हमने हीरे-जवाहरात से तोलने योग्य कोटि में रखा था उसी सिद्धान्त ने धर्म के नाम पर अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी कि उसके ढहने के तो आसार नजर आते ही नहीं, बल्कि चारों तरफ से उसको सीमेन्ट लगा कर पुख्ता-दर-पुख्ता करने की तैयारियां नजर आती हैं।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों को जितने अधिकार और जितनी सुरक्षा इस देश में प्राप्त है उतनी संसार के अन्य किसी देश में नहीं। पर यह भी इतिहास का कितना बड़ा आश्चर्य है कि बहुसंख्यक वर्ग की जितनी घोर अपेक्षा इस देश में होती है, उतनी घोर अपेक्षा संसार के किसी

और देश में नहीं होती। इस प्रकार के बीज हमारे उन कांग्रेसी नेताओं की चिन्तन-प्रणाली में ही मौजूद थे जिन्होंने सम्प्रदाय के आधार पर मताधिकार की सहमति दी थी और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिये अलग-अलग सीटों की व्यवस्था की थी। यह कांग्रेसी नेताओं के चिन्तन की ही त्रुटि थी कि उन्होंने शुरू से ही इस देश को मुस्लिम और गैर-मुस्लिम वर्गों में विभाजित किया और हिन्दू शब्द को सदा ओछी नज़र से देखते रहे। यह भी विचित्र बात है कि हिन्दू धर्म द्वारा प्रमाणित और हिन्दुओं की पुरातन परम्परा में परिपालित धार्मिक सहिष्णुता, अहिंसक वृत्ति और सर्व-धर्म-समभाव की प्रवृत्ति की वे नेता लोग प्रशंसा भी करते रहे परन्तु हिन्दू शब्द को हमेशा साम्प्रदायिक भी समझते रहे। राजनैतिक वातावरण कुछ इस ढंग का बना दिया गया कि जैसे गैर-हिन्दू होना राष्ट्रवादी होने की कसौटी बन गया और अपने आपको हिन्दुत्व से किसी भी प्रकार जोड़ने वाला व्यक्ति दकियानूसी और साम्प्रदायिक कहा जाने लगा। यदि मौलाना आज़ाद कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक के समय नमाज़ का वक्त हो जाने पर नमाज़ पढ़ने के लिये मीटिंग छोड़कर चले जायें तो यह बात उनके दीनदार होने की प्रशंसा में वृद्धि का कारण बने, परन्तु यदि राष्ट्रपति होते हुए भी डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सोमनाथ के पुनर्निर्मित ऐतिहासिक मन्दिर का उद्घाटन करने चले जायें तो वह राष्ट्र की धर्म-निरपेक्षता की नीति के विरुद्ध करार दिया जाये। यह भी कैसी विचित्र मनोवृत्ति है कि किसी भी शुभ कार्य के श्री गणेश के समय यदि आरती का दीप प्रज्वलित करके उसका मुहूर्त मनाया जाये तो वह साम्प्रदायिक हो गया और यदि बिजली के लट्टू जलाकर रबड़ के रंग-बिरंगे गुब्बारे छोड़ दिये जायें तो वह श्री गणेश का आदर्श और आधुनिक तरीका माना जाए।

क्या इस बात में संदेह का कोई कारण है कि इस देश के संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार करने का मूल कारण इस देश के बहुसंख्यक समाज का निश्चित रूप से हिन्दू-प्रधान होना है? जिस दिन इस देश में हिन्दू अल्पमत में हो जायेंगे उस दिन यह देश सम्प्रदाय-निरपेक्ष भी नहीं रहेगा। ज़रा भारत के चारों ओर निकटवर्ती पड़ोसी देशों पर नज़र डालिये, इस बात की सत्यता स्वयं ही प्रमाणित हो जायेगी। क्या पाकिस्तान और बांग्ला देश में कभी कोई गैर-मुस्लिम वहां का राष्ट्रपति बनने का स्वप्न देख सकता है?

आजादी के पश्चात् साम्प्रदायिकता किस प्रकार बढ़ी है उसका उदाहरण यह है— बंगलौर के एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी दैनिक समाचार पत्र में मलयालम के लेखक पी. एन. नम्बुदिरि की कथा का अनुवाद प्रकाशित हुआ। वही कथा अब से दस वर्ष पूर्व मलयालम के एक पत्र में प्रकाशित हुई थी और उसके लेखक को साहित्यिक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। केरल में, जहां साक्षर मुसलमानों का प्रतिशत सबसे

अधिक है, उस कहानी के प्रकाशित होने पर कोई हंगामा नहीं हुआ, परन्तु दस साल बाद कर्नाटक में मुसलमानों ने ऐसा हंगामा खड़ा कर दिया कि समझदार लोग मन ही मन उस पर हंसते होंगे। हंगामे का कारण? केवल यह कि उस कहानी के एक पात्र का नाम मोहम्मद था और हजरत मोहम्मद साहब इस्लाम के पूजनीय पैगम्बर हैं। क्या मुसलमानों में आम व्यक्तियों के मोहम्मद या उससे मिलते जुलते नाम नहीं रखे जाते?

यह असहिष्णुता मुसलमानों में तो है, ईसाईयों में भी कम नहीं। ईसामसीह के संबंध में एक नाटक हुआ तो ईसाई ही उस नाटक के विरोध में खड़े हो गये। अभी पिछले दिनों पाकिस्तान में एक कलाकार ने नाटक के पात्र के रूप में कथा के तकाज़े के अनुसार, सह-अभिनेत्री, अपनी पत्नी को तीन बार "तलाक तलाक तलाक" कह दिया, तो पाकिस्तान के मुल्ला-मौलवी इस ज़िद पर अड़ गये कि उस कलाकार को अपनी पत्नी को तलाक देना ही पड़ेगा, क्योंकि वह तीन बार उसके प्रति तलाक शब्द का उच्चारण कर चुका है, भले ही उसने नाटक में कहा हो। पाठक भूले नहीं होंगे कि "निकाह" नामक फिल्म पर भी इसी प्रकार की बात पर हंगामा हुआ था।

साम्प्रदायिकता की हद देखना चाहें तो उसका उदाहरण भी अपने आपको नये कायदे आजम के रूप में देखने वाले जनता पार्टी के नेता और अखिल भारतीय मुस्लिम मजलिसे मुशवराह के प्रधान सैयद शाहबुद्दीन ने प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने मुसलमानों से अपील की है कि वे गणतंत्र दिवस का बायकाट करें। मजलिस ने तिरंगा झंडा जलाने का भी फैसला किया है। कोई उनसे पूछे कि इस गणतंत्र दिवस का या तिरंगे झंडे का बाबरी मस्जिद से क्या वास्ता है? क्या यह गणतंत्र दिवस हिन्दुओं का है, पूरे राष्ट्र का नहीं है? क्या रावी के तट पर जब पूर्ण स्वराज्य की मांग की गई थी तब मौलाना हसरत मौहानी ने उसका समर्थन नहीं किया था? क्या राष्ट्र की आजादी के लिये अशफाकुल्ला खां का बलिदान गैर-इस्लामी था? मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, खान अब्दुलगफ्फार खां और रफी अहमद किदवाई जैसे राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं का स्वतंत्रता संघर्ष में योगदान क्या इस्लाम के सिद्धान्तों के विरुद्ध था? बाबरी मस्जिद के लिये हाथ तौबा मचाने वाले कठमुल्लों को क्या यह पता है कि उनके पैगम्बर हजरत मोहम्मद साहब सल्लाही अलैहवसल्लम ने स्वयं खड़े होकर मस्जिदे-जरार को गिरवा दिया था क्योंकि वह राजनीति का अखाड़ा बन गई थी? क्या आज बेतुल-मुकद्दस यरुशलम जो दुनिया के सारे मुसलमानों का किबलाये-अव्वल है, यहूदियों के कब्जे में नहीं है? शाहबुद्दीन साहब यह भी भूल जाते हैं कि दिल्ली के ही पहाड़गंज इलाके में दो मुसलमानों ने एक मस्जिद को देखते-देखते होटल में बदल दिया पर किसी मौलवी

के कान पर जूँ नहीं रेंगी। क्या वह मस्जिद नहीं है और सिर्फ बाबरी मस्जिद ही मस्जिद है? सैयद शाहबुद्दीन इस समय जिस प्रकार आम मुसलमानों को तअस्सुबी नशा पिलाकर भड़का रहे हैं उसको देखकर यह शेर याद आता है—

नशा पिलाके गिराना तो सबको आता है।

मज़ा तो तब है कि गिरते को थाम ले सकी।।

आज ऐसी साम्प्रदायिकता हमारे राष्ट्र के जीवन का अंग बनती जा रही है। एक तरफ महाशक्तियां परमाणु हथियारों के बल पर पूरी दुनिया को विनाश के कगार पर पहुंचाने को आमादा हैं और इधर अपने राष्ट्र में जब रोज सुबह अखबार पढ़ते हैं तो चोरी, डकैती, अपहरण, बलात्कार तथा स्त्रियों के जलाये जाने की खबरें ही प्रमुख होती हैं। पंजाब में निरन्तर बढ़ते आतंकवाद और निर्दोष लोगों की हत्याओं के समाचारों को सवेरे-सवेरे रोज नाश्ते के साथ निगलते हुए नाश्ता भी कितना बेस्वाद हो जाता है। सोचते हैं कि यह देश कहां जायेगा?

पर नहीं, हमने आशा छोड़ी नहीं है। हमें भारत के भविष्य में अब भी विश्वास है। ऊंट आसानी से कांटों को निगल लेता है और पचा भी जाता है। परन्तु जो कांटा उसकी पीठ में चुभ जाये तो उसकी चुभन उसे परेशान किये बिना नहीं छोड़ती। “पतन-अभ्युदय-बंधुर पंथा” का यह चिरयात्री न जाने कितने अंधेरों को झेल चुका है, परन्तु हमेशा पुनः नवीन प्रकाश की किरणों में नहाकर नये और अभिनवरूप में उद्भासित हो उठा है। हम उसी किरण की प्रतीक्षा में हैं। कहां है वह भोर की किरण?

२५ जनवरी १९८७



## देश, राष्ट्र, राज्य

तत्त्वतः तीनों में अन्तर है।... चारों दिशाओं में फैला कोई भी भूखण्ड ‘देश’ है— उसमें नदी, पर्वत, वन, मैदान सब शामिल हैं। पर केवल भूखण्ड निष्पाण है, जब तक उसमें कुछ लोग न बसते हों, ऐसे लोग जो उसे अपना समझते हों, उसकी रक्षा के लिए प्राणपण से कटिबद्ध हों। ये देश के निवासी ‘जन’ (जनता) हैं, उन्हीं से कोई देश ‘राष्ट्र’ कहा जाता है।... फिर यदि वह देश किसी राजनीतिक व्यवस्था से बंधा हो तो वह ‘राज्य’ कहा जाता है।

‘आप्त राष्ट्र पुरुष’ पृष्ठ १७-१८

## उन्माद और घृणा का ताण्डव

जिस मेरठ ने १८५७ की राज्य-क्रान्ति में और स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, उसी मेरठ में साम्प्रदायिक उन्माद और घृणा का जैसा ताण्डव नृत्य हुआ, उसे सभी ने अभूतपूर्व कहा है। किसी जमाने में राष्ट्रीयता का गढ़ और साम्प्रदायिक सौहार्द का नमूना रहे नगर में यह भयंकर विस्फोट क्या अकस्मात् हो गया? इसका भी सब अखबार-नवीसों ने यही उत्तर दिया है कि यह विस्फोट आकस्मिक नहीं था, बल्कि पूर्व-नियोजित था। पिछले कुछ सालों से मेरठ में साम्प्रदायिक दंगे भी होते रहे हैं। परन्तु इस बार इस उन्माद ने जो रूप ग्रहण किया, उसे केवल साम्प्रदायिक कहना भी उसे छोटा करके दिखाना है। यह दंगा नहीं था, यह खुली बगावत थी, देशद्रोह था और ऐसा लगता है कि किसी और भावी बड़ी घटना की रिहर्सल थी। तभी तो जरा सा संकेत मिलते ही सब मस्जिदों से ध्वनि-विस्तार-यंत्र के माध्यम से खुदा के बंदों को घरों से निकलने को कहा गया, और देखते ही देखते लगभग ३००० आदमी बन्दूक, भाले, छुरी, बर्छियां, पेट्रोल के कनस्तर और मशालें हाथ में लिये निकल पड़े। इस घटना की एक विशेषता यह भी रही कि भीड़ के आगे-आगे औरतें और बच्चे रखे गये, जिससे पुलिस को या अन्य किसी को भी सहसा हाथ उठाने की हिम्मत न हो। यह सब तैयारी एक दिन में नहीं हो सकती।

अप्रैल के महीने में साम्प्रदायिक उत्तेजना के कारण ही नौचन्दी का मशहूर मेला भी स्थगित करना पड़ा था। और उसके बाद वहां से उस समय दंगे को शान्त करने के लिये पी.ए.सी. की जो कम्पनियां तैनात थीं, उन्हें न जाने क्या सोच कर हटा लिया गया? उसके महीने भर बाद ही जब उन्माद और घृणा का यह ताण्डव नृत्य हुआ, तब पी.ए.सी. तो थी ही नहीं, पुलिस की संख्या भी बिल्कुल थोड़ी थी। वह उपद्रव-ग्रस्त इलाकों में घुसने की हिम्मत नहीं कर सकती थी। जो पुलिस वाले हिम्मत करके वहां गये भी, उनकी बन्दूकें छीन ली गईं, और उनको अपनी जान बचाने के लिये वहां से वापस आना पड़ा। इस काण्ड में लगभग पांच सौ आदमी मारे गये हैं। पांच सौ दुकानों, मकानों और कारखानों तथा चार सौ गाड़ियों को जलाकर राख कर दिया गया। अनुमान से करीब दो अरब रुपये की सम्पत्ति

नष्ट हुई, और हजारों लोग बेघरबार और बेरोजगार हो गये। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से इस काण्ड ने मेरठ की कमर तोड़ दी। असुरक्षा और आतंक की काली छाया इतनी घनीभूत हो गई कि बहुत से लोग मेरठ छोड़कर भाग गये। यह ताण्डव देश को गृह-युद्ध की आग में झोंकने का पूर्वाभ्यास लगता है। देश की एकता, अखण्डता, आजादी और लोकतंत्र को नष्ट करने की किसी गहरी साजिश की यह सुनियोजित कड़ी है।

इस कड़ी को खोजने के लिये दूर जाने की जरूरत नहीं। ३० मार्च को दिल्ली के बोट क्लब पर शहाबुद्दीन और अब्दुल्ला बुखारी ने मुसलमानों की जिस विशाल रैली का आयोजन किया था, उस रैली में दिये गये भाषणों से उस कड़ी के सूत्र अपने आप उभर कर आते हैं। उस रैली में जिस प्रकार के भाषण दिये गये, वह स्पष्ट रूप से देश में अराजकता पैदा करने के किसी गहरे षड्यंत्र का अंग था। इस रैली से पहले ही शाही ईमाम अखबारों को यह वक्तव्य दे चुके थे कि मुसलमानों के मन में हिन्दू-राज आने का डर है, इसलिये एक दिन मुसलमान अपनी हिफाजत के लिये अलग होम-लैण्ड की मांग करेंगे, और कहेंगे कि उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, असम, बंगाल आदि में जितने मुसलमान हैं, उन्हें अलग करके एक इलाके में जमा करो और मुस्लिम होमलैण्ड बनाओ। खुदा न करे यह दिन आये लेकिन हालात वह दिन जरूर ला देंगे।

उस दिन रैली में अब्दुल्ला बुखारी ने सब मिनिस्ट्रों को यह चेतावनी भी दी थी— “मिनिस्ट्रो, अपनी आंखें और कान खोल लो, नहीं तो मैं तुम्हारी कोठियां जला दूंगा। हम तुम्हारी कोठियां लूट लेंगे और तुम्हारी टांगें तोड़ देंगे। पुलिस वालों का भी हम यही हाल करेंगे।” उसके बाद भीड़ उठी और चिल्लाती हुई आगे बढ़ी तब बुखारी साहब ने फरमाया— “खुदा न खास्ता, अगर अभी मैं यह एलान कर दूं कि जाओ और कोठियां फूंक दो, तो कोई भी ताकत इनको रोक नहीं सकती। लेकिन वह समय नजदीक है जब जामा मस्जिद से ऐसा एलान किया जायेगा। तब बन्द पड़ी हर एक मस्जिद का ताला खोल दिया जायेगा।” बुखारी साहब ने यह भी कहा कि “हम इस सरकार को स्वीकार नहीं करते, हम इस आज़ादी को आज़ादी नहीं मानते और हिन्दुस्तान की अदालतों में भी हमारा कोई विश्वास नहीं है, अब तक हमने बहुत सब्र रखा है, परन्तु अब हम इन गुलामी की जंजीरों को तोड़कर रहेंगे। सरकार का शुक्रिया है कि उसने सोये हुए शेर को जगा दिया है।”

इसके अलावा लखनऊ के शिया नेता मोहम्मद आजम खां ने जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की छात्र-यूनियन के पहले प्रधान रह चुके हैं, कहा था— “यदि ये अदालतें हमको इन्साफ़ नहीं दे सकती, तो हम इन्साफ़ तलाश करने के



लिये सड़कों पर आ जायेंगे। और सुल्तान सलाहुद्दीन ओबेसी हैदराबाद के सांसद ने कहा था यदि २० करोड़ मुसलमान कुरबानी के लिये तैयार हो जाएं, तो देश पर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता, वह समय आ रहा है। जवानों में बेचैनी है और वे नये तरीकों की तलाश में हैं।

मौलाना कछौछवी ने सरकार से कहा था कि वह अपनी पुलिस और सुरक्षा—बल हटा ले और हिन्दू और मुसलमानों को सड़कों और गलियों में आपस में निपटने दे। क्या इस प्रकार के भाषणों के पश्चात् भी उन्माद और घृणा के ताण्डव की इस घड़ी के सूत्र कहीं छिपे रह सकते हैं?

जिस रमजान के महीने में मेरठ में यह ताण्डव हुआ, उसी रमजान के महीने में दिल्ली में भी उस भावी गृह—युद्ध के पूर्वार्ध्यास की बानगी दिखा दी गई। यहां भी ईद की नमाज़ के नाम से हजारों अल्पसंख्यक मस्जिदों में इकट्ठे हुए, और उसके बाद "मारो, लूटो और जलाओ" के नारे लगाते हुए वे चारों तरफ फैल गये। अन्त में दिल्ली और मेरठ दोनों जगह सेना बुलानी पड़ी, और कई—कई दिन के कर्फ्यू के पश्चात् बड़ी मुश्किल से स्थिति पर नियंत्रण किया जा सका। परन्तु अब भी आग के नीचे चिंगारियां छिपी पड़ी हैं जो चाहे जब भड़क सकती हैं।

मेरठ में दिल्ली के इस उन्मादी ताण्डव के पीछे राष्ट्रद्रोही और विदेशी तत्वों का कितना हाथ है, यह भी विचारणीय है। तलाशी के दौरान मेरठ के अनेक मोहल्लों में घरों से भारी मात्रा में पाकिस्तान में बनी राइफलें, बम तथा पिस्तौलें पकड़ी गई हैं। नादिर अली नामक उद्योगपति के घर से पाकिस्तानी राइफलें बरामद हुई हैं। पाकिस्तान में छपा उत्तेजक साहित्य भी बरामद हुआ है। हत्याओं, आगजनी के दौरान चार पाकिस्तानी नागरिक मेरठ में रंगे हाथ पकड़े गए। उन्होंने पुलिस के सामने स्वीकार किया कि हमें पाकिस्तान में इस बात की ट्रेनिंग दी गई थी कि भारत में जाकर किस प्रकार से शांति भंग करनी है, किस प्रकार दंगे भड़काने हैं, और किस प्रकार प्रशासन को पंगु बनाना है। स्वयं केन्द्रीय सरकार यह स्वीकार कर चुकी है कि पाकिस्तान से आये दो हजार व्यक्ति वापस लौटकर पाकिस्तान नहीं गए, और वे यहीं हिन्दुस्तान में कहीं न कहीं छिपे हुए हैं। वे कहां छिपे हुए हैं, इसका पता कौन लगाए?

अब दिल्ली और मेरठ में सरकार ने जो कदम उठाए हैं, उसकी बानगी भी देखिए— उत्तर प्रदेश की सरकार ने मलियाना के दंगों की जांच का आदेश दिया है, चाहिए तो यह था कि जांच केवल मलियाना की नहीं, बल्कि मेरठ के पूरे नरसंहार और आगजनी की जांच की जाती, क्योंकि मलियाना की घटना तो केवल उस सारे कांड का एक बहुत छोटा सा पहलू है। मलियाना की जांच एक—तरफा है। पता तो यह लगाना चाहिए कि दंगे क्यों हुए? किसने शुरू किए? दंगों के लिए

धन कहां से मिला? देशी और विदेशी हथियारों का इतना बड़ा जखीरा कैसे इकट्ठा हुआ? और देश में इस उन्मादी घृणा को फैलाने के पीछे किन तत्वों और विदेशी ताकतों का हाथ है? इसके बिना केवल मलियाना की जांच तो उन सांप्रदायिक तत्वों के हाथ में खेलना है, जो पी.ए.सी. को बदनाम करके अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। पी.ए.सी. को बदनाम करने के लिए भी शहाबुद्दीन और सैय्यद अब्दुल्ला बुखारी पिछले कुछ समय से निरन्तर शोर मचा रहे हैं, क्योंकि उनको लगता है कि जिस अराजकता के अंधे कुएं में वे सारे देश को धकेल देना चाहते हैं, उसमें पी.ए.सी. या सी.आर.पी. अथवा भारतीय सेना ही बाधक है। दिल्ली में इमाम साहब ने जामा मस्जिद पर ताला लगा दिया है और एक घोषणा कर दी है कि जब तक उनकी मांगें नहीं मानी जायेंगी तब तक किसी को भी जामा मस्जिद में नमाज पढ़ने के लिए नहीं जाने दिया जाएगा। अब इमाम साहब जामा मस्जिद को स्वर्ण मंदिर की तरह इस्तेमाल करके स्वयं भिण्डरावाले बनना चाहते हैं, और जिन पुलिस वालों ने दिल्ली में दंगे को नियंत्रित करने में सक्रिय भूमिका निभाई है, उनको वे दिल्ली से हटाना चाहते हैं। तो क्या दिल्ली के उप राज्यपाल श्री हरिकृष्ण लाल कपूर अपने स्थान पर इमाम साहब को उप राज्यपाल की गद्दी सौंप देंगे, और दिल्ली का प्रशासन इमाम साहब की मर्जी से चलेगा?

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कुछ राष्ट्र-द्रोही तत्व भारत में गृहयुद्ध छेड़ने पर आमादा हैं। उनके इरादे बेनकाब हो चुके हैं। किसी भी राजनीतिक मसलहत के कारण इन राष्ट्रद्रोही तत्वों का किसी प्रकार से तुष्टिकरण और अवहेलना उचित नहीं होगी। जिन शहीदों ने राष्ट्रीयता की अदम्य भावना से प्रेरित होकर सांप्रदायिक सौहार्द की वेदी पर अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया, क्या उनकी स्मृति की यही विरासत है? यदि देश के राजनीतिज्ञों ने अब भी राष्ट्रहित को सर्वोपरि महत्त्व देकर उक्त राष्ट्रद्रोही तत्वों का इलाज नहीं किया, तो उन्माद और घृणा का यह तांडव सारे देश को अपने अन्दर समेट लेगा, और सारे देश की अखंडता भी खतरे में पड़ जायेगी।

## हे श्रीनाथ जी! वे क्यों है अनाथ जी?

### सोने की चक्की और चांदी का कुआं

कभी किसी मन्दिर में सोने की चक्की और चांदी का कुआं होने की कल्पना आप कर सकते हैं? पर नाथद्वारे के श्रीनाथ जी के मन्दिर के वैभवत्व का यह एक प्रतीक मात्र है। श्रीनाथ जी की प्रतिमा पर चढ़ाये जाने वाले केसर को पीसने के लिये सोने की चक्की काम में लाई जाती है और जिस शुद्ध घी में बनाकर प्रसाद देवता पर चढ़ाया जाता है उस घी को रखने के लिये वहां एक चांदी का कुआं भी बना हुआ है।

भारत के अनेक मन्दिरों के वैभव की कथाएं प्रायः सुनने को मिलती रहती हैं। और उन मन्दिरों पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिये जिस प्रकार की जोड़-तोड़ चलती है उसका बहुत बड़ा कारण उन मन्दिरों का वैभव ही है। अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में अगर प्रतिवर्ष १२ से १५ करोड़ रुपये तक की आय न होती तो उस पर अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये राजनीतिक जोड़-तोड़ भी न होती। मन्दिरों के इसी वैभव ने सरकार को इन धर्मस्थानों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने के लिये प्रेरित किया है। हिमाचल प्रदेश के मन्दिरों पर वहां की सरकार ने अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। उत्तर प्रदेश के काशी विश्वनाथ मन्दिर पर भी सरकार अपना नियन्त्रण स्थापित कर चुकी है। पिछले दिनों जम्मू-कश्मीर की सरकार एक अधिनियम द्वारा वैष्णो देवी के मन्दिर पर नियन्त्रण स्थापित कर चुकी है। आन्ध्र प्रदेश के विश्व विख्यात तिरुपति के विशाल देवस्थान पर कई वर्षों से सरकार का नियन्त्रण है ही। वहां देवता के मुकुट के लिये पांच करोड़ रुपये के हीरे जवाहरात उसमें लगा कर देवता को प्रसन्न करने वाले भक्तों के समाचार प्रायः सुनने को मिलते रहते हैं। तेलगु देशम् के मुख्यमंत्री श्री एन. टी. रामाराव ने जब तिरुपति देवस्थान से जनता की पेयजल की समस्या और अकाल की समस्या दूर करने के लिये ३३ करोड़ रुपया उधार लिया, तो उसके पक्ष-विपक्ष में काफी चर्चा रही। अगर मन्दिरों में इस प्रकार इतनी बड़ी मात्रा में पूंजी इकट्ठी

न होती तो शायद मुगल काल में सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गज़नवी का हमला भी न हुआ होता।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी मुगल काल में उनके अत्याचारों से अपने इष्ट-देव को बचाने के लिये उसकी मूर्ति को लेकर उदयपुर आ गए, और उदयपुर-नरेश से जब उन्होंने शरण देने की प्रार्थना की तो उनको नाथद्वारे में शरण दी गई। वृज के अपने उन पूर्वजों के वंशज नाथद्वारा के वासी आज भी अपने आपको वृजवासी कहने में गर्व अनुभव करते हैं। परन्तु नाथद्वारे में आने वाले सबसे अधिक तीर्थयात्री गुजरात के होते हैं। वैष्णव मत के बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या सारे संसार में छः करोड़ के आस-पास मानी जाती है। परन्तु नाथद्वारे के सबसे अधिक भक्त गुजरात में होने के कारण वहां के तीर्थयात्रियों के माध्यम से गुजरात की समृद्धि का प्रवाह अनायास नाथद्वारा के मन्दिर को भी प्राप्त हो जाता है।

मन्दिर के कार्यकलाप की व्यवस्था के लिये जो बोर्ड बना हुआ है उसके अध्यक्ष महामहिम हाईनेस तिलकायत गोस्वामी गोविन्दराम जी महाराज हैं और मन्दिर-सम्बन्धी किसी भी व्यवस्था के लिये उच्चतम अधिकारी वही हैं। पिछले दिनों जब मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश को लेकर आन्दोलन चला तो तिलकायत जी महाराज ने अपनी अनुमति तो दे दी, परन्तु उनके अनुयायियों को यह अनुमति उतनी रास नहीं आई। वैष्णव-सम्प्रदाय में छुआछूत कुछ अधिक मात्रा में ही मानी जाती है। हरिजनों के स्पर्श की तो बात अलग है, वे मन्दिर में स्नान करने के पश्चात् अपने इष्ट-देव की अराधना के लिये जाते हुए अपने ही परिवार के अन्य लोगों की छाया से भी बचते हैं। मन्दिर के नियमों के अनुसार जो वस्त्र पहन कर इष्ट-देव के दर्शन के लिये जाना होता है, जो उन वस्त्रों को धारण नहीं करते वे स्वयं अपने आपको हीन-कोटि में मानकर, भक्तों के मार्ग में बाधक बनने के बजाय दीवार से चिपक कर खड़े हो जाते हैं, ताकि भक्त लोग शुद्धि की अपनी मान्यताओं के अनुसार आचरण करते हुए अपने इष्ट-देव के दर्शन कर सकें। मन्दिर के इन नियमों का पालन न करने वालों पर भी मन्दिर की पवित्रता का यह आतंक छाया रहता है।

दिन और रात के चौबीस घंटों में मन्दिर के द्वार दर्शनों के लिये निश्चित समय पर आठ बार खुलते हैं, और एक बार के दर्शन में शुद्ध घी का बना हुआ १२ मन प्रसाद देवता पर चढ़ाया जाता है। वही प्रसाद बाद में मन्दिर के बाहर आकर भक्तों में बेचा जाता है और भक्त लोग बड़ी श्रद्धाभक्ति और चाव से उसे खरीदते हैं। कहा जाता है कि इस मन्दिर के कर्मचारियों को वेतन के बजाय इस प्रसाद का ही कुछ भाग मिलता है, और वे उसे बेच कर अपना भरण-पोषण करते हैं। प्रसाद

का मूल्य स्थिर नहीं रहता, वह परिस्थिति और मांग के अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश के लिये राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री हरदेव जोशी ने २० जून को एक विशाल सम्मेलन बुलाया, और उसी में निश्चय किया गया कि ३० जून को हरिजन बड़ी संख्या में धूमधाम के साथ मन्दिर में प्रवेश करेंगे। यह खबर फैलते ही मन्दिर के प्रबन्धकों की ओर से ११ व्यक्तियों का एक शिष्टमंडल मुख्यमंत्री से मिला और उनसे आग्रह किया कि बड़ी संख्या में इस प्रकार हरिजनों के प्रवेश से गड़बड़ी की आशंका है। इसलिये वे इस प्रस्ताव को कार्यान्वित न करें। मुख्यमंत्री मान गए, और उन्होंने ३० जून को हरिजनों की भारी संख्या में मन्दिर-प्रवेश की तारीख को भी आगे के लिये टाल दिया।

परन्तु अगले ही दिन एक पूर्व संसद-सदस्य गणेश लाल माली अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ के उपप्रधान, कांग्रेस के वर्तमान संसद-सदस्य श्री केयूर भूषण त्रिपाठी को लेकर मन्दिर में चले गए। मन्दिर में प्रवेश करने से उनको किसी ने रोका नहीं, परन्तु जब वे लौटकर मन्दिर के बाहर आए और फतेहसिंह बापू की बैठक में आपसी चर्चा में संलग्न थे, तभी यह समाचार पाकर कि दो हरिजनों ने मन्दिर में प्रवेश कर लिया है, बाहर भीड़ इकट्ठी हो गई। भीड़ श्री त्रिपाठी को भी हरिजन ही समझ रही थी। ज्यों-ज्यों भीड़ बढ़ती गई, उसकी उत्तेजना भी बढ़ती गई, और अन्त में भीड़ इतनी उत्तेजित हो गई कि पथराव करते हुए हिंसा पर उतर आई, तब पुलिस को आकर गोली चलानी पड़ी। जिसमें कुछ लोगों की मृत्यु हो गई। इस घटना के कारण पर विचार करते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश को प्रतिबन्धित करने के लिये न संविधान आज्ञा देता है, और न धर्म-शास्त्र आज्ञा देता है, न वर्तमान ज़माने की लहर आज्ञा देती है, और स्वयं मन्दिर के अधिकारी भी प्रतिबन्ध का अनुमोदन नहीं करते। परन्तु सवर्ण जनता के मन में से हरिजनों के प्रति घृणा की भावना अभी तक समाप्त नहीं हुई है।

बिहार की एक घटना याद आती है। एक गांव के मुखिया जिनको अपनी ऊंची जाति का होने का अभिमान था, हमेशा अपने घर के सामने की सड़क खुदवा देते थे। नगरपालिका के कर्मचारी बार-बार आकर सड़क की मरम्मत करते, परन्तु वे सज्जन फिर सड़क खुदवा देते। तब मौहल्ले के कुछ लोग उनके पास गए और विनम्रता-पूर्वक उनका अभिवादन करके बोले कि आप जैसे बुजुर्ग और समझदार व्यक्ति अपने घर के सामने की सड़क बार-बार क्यों खुदवा देते हैं? इससे तो आपके पास आने वालों की ही परेशानी बढ़ती है। तो वे बुजुर्ग सज्जन निष्कपट भाव से बोले- “भइया! सच बात तो यह है कि आजकल के हरिजनों के पढ़े-लिखे छोकरे

साईकिल पर सबके घर के सामने से निकल जाते हैं और किसी को दुआ-सलाम तक करने की तहज़ीब उनको नहीं है। मैं सड़क इसलिये खुदवा देता हूँ कि अब तो इन सबको झक मार कर मेरे घर के सामने साईकिल से उतरना ही पड़ेगा; और मैं मन में यह सन्तोष कर लूंगा कि मेरे प्रति आदर प्रकट करने के लिये ही ये साईकिल से उतरे हैं।”

बिहार अपने जातिवाद के लिये सारे देश में बदनाम है, पर उस बुजुर्ग की मनोवृत्ति क्या सारे सवर्ण-समाज की मनोवृत्ति नहीं है? लालड़ और फतेहाबाद में आतंकवादी असहाय बस-यात्रियों को निर्ममता पूर्वक मार जाते हैं, तो सारे देश के बड़े-बड़े शहरों में बन्दों का आयोजन होता है; और इस रूप में देश की जनता आतंकवादियों के प्रति शेष और मरने वालों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करती है। पर क्या आज तक किसी ने सुना है कि बेलघी या बिहार के अन्य गांव में जमींदारों और ठाकुरों द्वारा पिछड़े वर्ग के लोगों की नृशंस हत्या के विरोध में कभी किसी बड़े शहर में किसी बन्द का आयोजन किया गया हो। यह कहकर न तो हम आतंकवादियों का समर्थन कर रहे हैं, और न ही आतंकवाद के शिकार हुए लोगों के प्रति संवेदना के स्वर को कम करना चाहते हैं। परन्तु देश के सवर्ण-समाज की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का तो इससे आभास होता ही है।

महात्मा गांधी ने भले ही कहा हो कि अस्पृश्यता ईश्वर और मानवता के प्रति अपराध हैं, पर अभी तक सारे देश का सवर्ण-समाज इस अपराध को करने में कोई पाप नहीं समझता। यही कारण है कि नाथद्वारा की इस घटना के बाद वहां के हरिजनों में जैसी हताशा और आक्रोश ने जन्म लिया है, उसी की छाया उदयपुर के अन्य आदिवासी इलाकों पर भी पड़ी है; और वहां के गिरिजन और हरिजन सवर्ण-समाज के प्रति आक्रोश से भर उठे हैं। सवर्ण-समाज की यह घृणा ही पिछड़े वर्गों के धर्मान्तरण का भी बहुत बड़ा कारण है। जब तक पुरातन-पंथी अपने आपको ऊंची जाति का मानने वाले लोग सदियों से चले आए परिगणित और अनुसूचित जातियों के प्रति घृणा और भेदभाव के अपने संस्कारों को नहीं बदलेंगे, तब तक समाज में सौमनस्य और सौहार्द की कल्पना नहीं की जा सकती।

क्या श्रीनाथ जी केवल सवर्णों के ही नाथ हैं? क्या परमात्मा भी अपने पुत्रों में भेदभाव करता है? क्या श्रीनाथ जी सारे जगत के नाथ नहीं हैं? अगर वे सारे जगत के नाथ हैं तो उनके दरबार में बेचारे हरिजन ही अनाथ क्यों हैं? जो जगत के नाथ हैं, उनकी तो अनाथों पर विशेष कृपा-दृष्टि होनी चाहिये।

## जहां सरकार फेल हो गई

दिवराला में रूपकंवर के दहन के नाम से सती—प्रथा को दोहराने की घटना कोई पहली घटना नहीं है। अब से १५८ वर्ष पूर्व सती—प्रथा—विरोधी कानून बन जाने के बाद भी देश में जिस प्रकार अन्य कानूनों का उल्लंघन होता रहता है, उसी प्रकार इस कानून का भी उल्लंघन होता रहा, और सरकार टुकुर-टुकुर देखती रही। सच बात तो यह है कि जिन कानूनों का सम्बंध किसी सामाजिक अंधविश्वास और कुरीति का तोड़ना होता है, उसके विरुद्ध कानून बन जाने पर भी, उस पर तब तक पूरी तरह अमल सम्भव नहीं है, जब तक कि समाज के बहुमत द्वारा उसे स्वीकार न कर लिया जाये। सरकार भी क्योंकि उसी अन्धविश्वास और कुरीतियों से ग्रस्त समाज की उपज होती है, इसलिये जिस प्रकार समाज के अनुयायी अपनी प्राचीन परम्परा के नाम से उन अन्धविश्वासों और कुरीतियों को सहसा छोड़ने की हिम्मत नहीं कर पाते, उसी तरह प्रशासन के विभिन्न पदों पर बैठे हुए सरकारी अधिकारी भी नहीं कर पाते; और जब सरकारी अधिकारियों के या उनके किसी वर्ग—विशेष में उन अन्धविश्वासों और कुरीतियों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति भी हो, तब सरकारी कानून कुछ भी कहता रहे, उसका उल्लंघन होने से रोकना सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार कानून का पालन करवाने में लोकतंत्र में एक और बाधा भी है। और वह यह है कि जनता के बहुमत से चुनी जाने वाली सरकार ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहती, जिसके प्रति उसको यह आशंका हो कि समाज का बहुत बड़ा वर्ग उस कदम के कारण आगामी चुनाव में अपना वोट उन्हें न देकर विजय से वंचित कर सकता है। ऐसे समय जिस निर्भयता और साहस की आवश्यकता होनी चाहिये, उसकी आशा वर्तमान सरकारी अधिकारियों से तो की ही नहीं जा सकती।

इसके अलावा एक पहलू और भी है जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। श्रीमद्-भगवद्-गीता में लिखा है

न बुद्धि-भेदं जनयेदज्ञानां कर्म-संगिनाम्।

अनपढ़, अशिक्षित और अज्ञानी व्यक्तियों में बुद्धि—भेद पैदा नहीं करना चाहिए। हमारे देश की अधिकांश जनता जहां अशिक्षित है, वहां प्राचीन रूढ़ और मूढ़

परम्पराओं की अन्धविश्वासी भी है। इसलिये सहसा अपनी मान्यताओं पर चोट उसे बर्दाश्त नहीं होती। इसी स्थान पर आकर समाज—सुधारकों का महत्त्व पता लगता है। जो साहस प्रशासन नहीं कर सकता और सुविधा—भोगी, आराम—पसन्द, विलासी जीवन जीने के आदी, स्वार्थ और भ्रष्टाचार में लिप्त, और समाज—कल्याण के बजाय निज—कल्याण की लालसाओं में दिन—रात लिप्त रहने वाले, जब फूंक—फूंक कर कदम रखना अपने बुद्धिमान होने की निशानी समझते हैं, तब भी जो समाज—सुधारक स्वयं आगे बढ़कर, अन्धविश्वासों की ज्वाल—माल का आलिंगन करने को तैयार हो, वही असली समाज—सुधारक है—अन्यथा पेट—पूजक पोपों और भगवानों से तो यह पृथ्वी भरी पड़ी है। सरकारें समझती हैं कि हमने कानून बना दिया, बस हमारा कर्तव्य समाप्त हो गया। उस पर अमल करवाना हमारे अमले का काम है। हमको उसमें कोई सक्रिय भूमिका अदा नहीं करनी; और शायद अमल करवाने वाला अमला सोचता है कि जब सरकारी अधिकारी ही संकट का सामना करने से घबराते हैं, तो गुस्से में तमतमाते, लाठियों और तलवारों से लैसों हिंसा पर उतारू, उत्तेजित और सत्य तथा असत्य के विवेक से शून्य, अधर्म को धर्म समझने वाले, धर्माचार्यों के बहकाये उग्र जन—समुदाय से सिर तुड़वाने को क्या हम ही रह गये हैं? इसी का ही परिणाम होता है कि सरकार अ—सरकार बन जाती है, और वह असर—कारक नहीं रहती। कानून अपने स्थान पर ठीक, सरकार अपने स्थान पर ठीक, अमला अपने स्थान पर ठीक, जनता अपने स्थान पर ठीक, और अन्य परम्पराएं ज्यों की त्यों जारी।

इन्हीं कारणों से इस बार के रूपकुंवर के काण्ड से देश भर के समाचार—पत्रों में तथा अन्यत्र जैसा बावेला मचा, वैसा बावेला शायद उससे पहले कभी नहीं मचा। जन—सामान्य और बुद्धिजीवियों में सती—प्रथा के औचित्य और अनौचित्य के सम्बंध में कागज भी कम काले नहीं हुए, और बहस भी कम नहीं छिड़ी। पर इस सब आक्रोश के चहुं ओर नपुंसकता का आवरण छाया हुआ है। तलवारें भांजने वाले भी कम डरपोक नहीं थे। जब आदमी तर्क से किसी बात को नहीं समझ सकता, तभी तलवार के माध्यम से अपनी बात मनवाना चाहता है। और तलवारें भांजने का सीधा अर्थ यह है कि उनके पास अपनी बात को सही साबित करने के लिये तर्क और बुद्धि का सर्वथा अभाव है। उन कूढ़मगज धर्माचारियों पर आश्चर्य होता है, जो इस प्रकार के अविवेक के पक्ष में फतवे देते हैं, और उनको धर्मसंगत सिद्ध करना चाहते हैं। वे धर्माचारी भी किन्हीं अन्य स्वार्थी व्यक्तियों से कम स्वार्थी नहीं होते। अगर सरकार को अपनी गद्दी बचाने की फिक्र है तो उसी प्रकार धर्माचारियों की भी तो अपनी गद्दी है। दोनों प्रकार की गद्दियां जिन पायों पर आसीन हैं, वे पाये दोनों तरफ समान रूप से स्वार्थ और केवल स्वार्थ से बने हैं।



इस सारे निराशा और हताशा के वातावरण में आर्य समाज एक सूर्य की किरण बन कर आया। जिस प्रकार छुआछूत और जात-पात के विरोध में, बाल-विवाह के विरोध में, दहेज के विरोध में, तथा अन्य कुरीतियों के विरोध में सरकार कानून बना कर भी पूरी सफल नहीं हो सकी, और तब आर्य समाज के ही कार्यकर्ताओं ने इन सबके विरोध में शहादत के प्याले पी पी कर भी, अपनी जान हथेली पर लेकर जन-जागरण का अभियान चलाया, वही बात इस बार भी हुई। आर्य समाज के युवा सन्यासी और बंधुवा मजदूर मुक्ति मोर्चा के एक मात्र नेता श्री स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में १०१ सन्यासियों की पद यात्रा ५ दिसम्बर १९८७ को दिल्ली से दिवराला की ओर रवाना हुई। कैसा विचित्र दृश्य था! एक तरफ वे सन्यासी हैं जो समाज को आध्यात्मिकता और धर्म की अफीम खिलाकर स्वयं अपने स्वार्थ के नशे में और एशो-आराम में मग्न हैं। दूसरी तरफ ये गेरुवे वस्त्र-धारी सन्यासी हैं, जिनमें कई सत्तर-अस्सी वर्ष के बूढ़े भी हैं। सन्यासीनियां भी साथ हैं, और ये पौष-मास की कड़ाके की सर्दी में भारत की राजधानी से सती-प्रथा के विरोध में और नारियों के शोषण के विरोध में जनता को जगाने के लिये एक महान् अभियान पर निकले हैं। इनके हाथों में तलवारें नहीं हैं, केवल ओ३म् के झण्डे हैं। इनकी जवान पर नारे नारी-शोषण के विरुद्ध हैं, और हृदय में सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की आग जल रही है। वह आग और को नहीं, केवल अपने आपको जलाती है। इस आग-भरे हृदय से औरों के लिये तो केवल शान्ति और प्रेम का सन्देश है। जन-जागरण का यही अभियान देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है, जो सरकारी कानूनों से पूरी नहीं हो सकती और जिसे आर्य समाज के इन उत्साही कार्यकर्ताओं ने अपना लक्ष्य बनाया है।

५ दिसम्बर को शुरू हुई पदयात्रा जहां समाप्त हुई, वहां से दिवराला केवल तीन कि०मी० दूर रह गया था। न्यायालय के समर्थन के बावजूद व्यामोह-ग्रस्त सरकारी अधिकारियों ने दिवराला में धारा १४४ लगा दी और इस जत्थे को जिसमें धीरे-धीरे पदयात्रियों की संख्या १०१ से बढ़कर लगभग ५०० तक पहुंच गई, बांडी नदी से आगे नहीं जाने दिया, और सब पदयात्रियों को गिरफ्तार कर लिया। धर्म-रक्षा-समिति के वे लोग जो इस पद-यात्रा को रुकवाने के लिये सब तरह से आमादा थे और यात्रा को रोकने के लिये न्यायालय में याचिका देकर भी मुंह की खा चुके थे और अधर्म को धर्म सिद्ध करना चाहते थे। हो सकता है वे इसे अपनी विजय समझें परन्तु जैसी पराजय का मुंह उनको देखना पड़ा, वैसी पराजय शायद किसी और को देखनी नसीब न हुई। क्योंकि दिवराला के ही सैकड़ों स्त्री-पुरुष स्वयं तीन कि० मी० दूरी पार करके इन पदयात्रियों का स्वागत करने पहुंच गये, और इनके प्रवचनों से स्वयं दिवराला की नारियों का वह मोह भंग हो

गया, जिसे धर्म-रक्षासमिति वाले इतनी मुश्किल से बचाये हुए थे। इस सारी पद-यात्रा के दौरान जितने गांव और शहर आये, उन सबमें नर-नारियों ने जिस प्रकार इन पदयात्रियों का स्वागत किया, और उनके मन में समाज-सुधार की एक नई लहर पैदा हुई, उसने प्राचीन अन्धविश्वास और कुरीतियों की जड़ में ऐसा कुठाराघात किया है, जो सरकार के कानून से सम्भव नहीं। अनेक स्थानों पर तो मुसलमानों ने भी पदयात्रियों का आगे बढ़-बढ़ कर स्वागत किया, और अशिक्षा के आवरण में लिपटी, तथा औरतों के प्रति होने वाले अन्याय और अत्याचार को चुपचाप सहने को ही अपना धर्म समझने वाली, देहाती औरतों के मन में एक नया विश्वास जागा और उनको लगा कि हमारे साथ होने वाला अन्याय परमात्मा की ओर से नहीं और हमारे भाग्य की देन नहीं, प्रत्युत अपने स्वार्थों के लिये नारी-मात्र का शोषण करने वाले समाज-द्रोहियों की करतूत है।

दिवराला में रूपकुंवर को जलाने पर उसकी चिंता से जो धुआं उठा था, उसने मानवीयता को कालिमामय बनाकर कलंकित कर दिया। उसके मुकाबले में बांडी नदी के तट पर आर्य समाज के उन सन्यासियों द्वारा जो यज्ञ किया गया, उस यज्ञ कुण्ड से निकले धुएं ने राजस्थान की जनता को जन-जागरण का नया सन्देश दिया। उस धुएं ने आंखों को अन्धा किया था, इस धुएं ने आंखों में सुरमे का काम किया है, और आंखों का धुन्ध और जाला हटाया है। अजीतगढ़ से सामाजिक पुनर्जागरण की यह जो नई लहर यज्ञ के रथ पर सवार होकर विजय के लिये निकली है, वह अजीतगढ़ के नाम को सार्थक करेगी, यह विश्वास है। आर्य समाज के इन उत्साही वीरों से और स्वामी अग्निवेश से इतना ही कहना है कि जिस मंजिल पर तुम बढ़ चले हो, उस मंजिल को अभी बीच रास्ते में नहीं छोड़ना है, उसे पूरा करना ही होगा। चरैवेति। अभी तो केवल शुरुआत है।

१० जनवरी १९८८



“क्षितीश जी जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे पूरी निष्ठा और ईमानदारी से करते हैं।... पत्रकारिता और समाज का कार्य प्रति-क्षण उनके साहित्यरस को सोखता रहता है। उनकी पुस्तकें साहित्य-धर्मी हैं। वे तो आर्यसमाज को छोड़ेंगे नहीं, अगर आर्य-समाज उनको साहित्य के लिए छोड़ दे, तो हिन्दी को एक सशक्त हस्ताक्षर मिल जाएगा।”

-गोपालप्रसाद व्यास

(हास्य-व्यंग्य के कवि, दैनिक हिन्दुस्तान)

बी-५२, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

## अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

भारतीय संविधान में जहां वाणी की स्वतंत्रता आदि का उल्लेख है, वहां निम्न पांच बातों की स्वतंत्रता भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रदान की गई है :

क. वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, ख. शान्तिपूर्ण निरायुध सम्मेलन की स्वतंत्रता ग. संगठन बनाने की स्वतंत्रता, घ. भारत में सर्वत्र अबाध संचरण की स्वतंत्रता, ङ भारत के किसी भी भाग में बसने की स्वतंत्रता ।

उक्त पांचों स्वतंत्रताओं के लिये यह प्रतिबन्ध भी साथ ही लगाया गया है कि यदि इन स्वतंत्रताओं से राज्य की प्रभुता, अखण्डता, सुरक्षा और लोक-व्यवस्था तथा शिष्टाचार को हानि पहुंचे तो वह स्वतंत्रता स्वीकार-योग्य नहीं होगी। इस प्रकार जहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पूरी छूट स्वतंत्र भारत में दी गई है, उसके साथ ही देश की स्वतंत्रता को हानि पहुंचाने वाले प्रतिबन्धों से उसे मर्यादित भी कर दिया गया है। सच बात तो यह है कि इन मर्यादाओं के अभाव में नागरिकों को दी गई स्वतंत्रता उच्छृंखलता में बदल सकती है, और वह उच्छृंखलता अराजकता में परिणत हो सकती है। तब समस्त राज्य-व्यवस्था भी व्यर्थ हो जाती है। राज्य-व्यवस्था है ही इसलिये कि वह जनता को मर्यादित स्वतंत्रता का उद्घोष करने की छूट दे, और जो लोग इस प्रकार की मर्यादाओं का उल्लंघन करने के आदी हों, उनको प्रशासन की ओर से दण्ड दिया जाए, जिससे अन्य नागरिकों का जीवन व्यवस्थित और सुरक्षित रह सके।

ऋषिवर दयानन्द ने आर्य समाज के दसवें नियम में इसी बात को बहुत ढंग से प्रस्तुत करते हुए लिखा है "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।" इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक परतन्त्रता से बंधी हुई है। यदि कोई व्यक्ति समाज-हित की चिन्ता नहीं करता और अपनी स्वतंत्रता का समाज के विरोध में प्रयोग करता है, तो वह स्पष्ट रूप से समाजद्रोही है। यदि सभी व्यक्ति उसी प्रकार वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रयोग करने लगें, तो उन स्वतंत्रताओं का अन्य व्यक्तियों के हितों में व्यवधान होने के कारण फिर पूरा समाज नष्ट-भ्रष्ट होने की अवस्था में पहुंच जायेगा। राष्ट्र भी छोटे समाज का

ही विस्तृत रूप है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मर्यादाओं से बंधी हुई है।

भारत क्योंकि बहुभाषी, बहुधर्मी और बहुजातीय देश है, इसलिये इस प्रकार की मर्यादाओं की और भी अधिक आवश्यकता है। यदि इस देश के संविधान में, और यहां की जनता के बहुसंख्यक वर्ग में साम्प्रदायिक सहिष्णुता की भावना न हो, तो इस देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना कठिन हो जाये। इसलिये दावे के साथ कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक सहिष्णुता में विश्वास रखने वाला ८५ प्रतिशत हिन्दू समाज जब तक यहां बहुमत में है, तभी तक यहां लोकतंत्र भी है, सम्प्रदाय-निरपेक्षता भी है और जन-जीवन की सुरक्षा भी है। जिस दिन यहां हिन्दू अल्पमत में हो जायेंगे इनमें से एक भी तत्व यहां नहीं बचेगा। हमारे संविधान में लोकतंत्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धांत को स्वीकार किये जाने का सबसे बड़ा कारण यही है कि ये दोनों चीजें यहां के जन-मन में रची बसी थीं। जिन देशों में गैर-हिन्दुओं का बाहुल्य है, उनके यहां उक्त दोनों मूल तत्वों का भी अभाव है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, भारत के चारों ओर जितने देश हैं, एक बार उन पर नजर डाल लीजिये तो हमारी बात की पुष्टि हो जायेगी। भारत के चारों ओर ही क्यों, हम तो कहेंगे कि यूरोप और अमरीका के सुदूरस्थ देशों में भी इस प्रकार की सम्प्रदाय-निरपेक्षता का कोई स्वाभाविक आधार दिखाई नहीं देता। अन्यथा इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड का, तुर्की और लेबनान का, अरब और इजराइल का, तथा ईराक और ईरान का विद्यमान संघर्ष दिखाई नहीं देता। कुछ लोग इस बात को भारत की दुर्बलता समझ सकते हैं, परन्तु जिन आदर्शों के लिये भारत अब तक जीवित रहता आया है, और सारे संसार में उसकी ख्याति है, अकस्मात् उन आदर्शों से विचलित हो जाना सम्भव नहीं।

परन्तु अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के सम्बंध में जिस विवेक की आवश्यकता है, कभी-कभी भारत सरकार में वह विवेक दृष्टिगोचर नहीं होता। हो सकता है कि वह हमारा अपना ही अविवेक हो, परन्तु हमें तो अपने विवेक के अनुसार ही करनी पड़ेगी। उस विवेक के आधार पर हम यह कहने का साहस करते हैं कि पिछले दिनों सरकार ने एक ऐसी पुस्तक को छपने से पहले ही जब्त करके अपने विवेक का परिचय नहीं दिया। पुस्तक के लेखक थे "श्री राम स्वरूप"। वह पुस्तक अंग्रेजी में कई साल पहले छप चुकी थी। पुस्तक का नाम था "अंडरस्टैंडिंग इस्लाम थू हदीस" पुस्तक के अंग्रेजी में तीन संस्करण छप चुके थे और श्री सीताराम गोयल ने उनका हिन्दी अनुवाद 'हदीस के माध्यम से इस्लाम का अध्ययन' छपा था। छपने के बाद वह पुस्तक जिल्द बांधने के लिये जिल्दसाज के यहां गई थी। वहां से पुस्तक की सब प्रतियां उठा ली गईं

और श्री डा० सीताराम गोयल को गिरफ्तार कर लिया गया। इस कांड से तीन बातें सामने आती हैं—

१. अंग्रेजी में लिखी हुई पुस्तक उतनी विस्फोटक नहीं होती, जितनी विस्फोटक हिन्दी में लिखी हुई होती है।
२. अंग्रेजी के पाठक कितने सहिष्णु और समझदार हैं कि इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़कर भी उत्तेजित नहीं होते।
३. हिन्दी के पाठक नासमझ हैं, इसलिये हिन्दी में लिखी पुस्तक खतरनाक होती है।

क्या हिन्दी-वालों को अज्ञानी समझना, अंग्रेजी वालों को ज्ञानी समझना, और एक ही बात यदि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में कही जाये तो उसके अलग-अलग प्रभाव की कल्पना करना, क्या सरकार के विवेक का सूचक है? कोई भी समझदार व्यक्ति सरकार के इस अयुक्त कार्य पर मन ही मन बिना हंसे नहीं रह सकता।

जहां तक हमें जानकारी है इस पुस्तक में लेखक ने अपनी ओर से कोई शब्द नहीं लिखा था, और यह पुस्तक इस्लाम के समस्त अनुयायियों में सबसे अधिक प्रमाणिक मानी जाने वाली "वही इस्लाम" नामक हदीस का अनुवाद—मात्र थी। और जब अंग्रेजी में तीन संस्करण निकल जाने पर भी कोई खतरा उपस्थित नहीं हुआ, तो हिन्दी में उसके छप जाने पर कौनसा अनर्थ हो जाता? यह हमारी समझ में नहीं आता। यहीं हम एक बात और भी कहना चाहते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता के प्रति जनता—जनार्दन की चेतना को जागृत करने का केवल एक ही उपाय है। और वह है एक दूसरे के धर्म की सही जानकारी। बहुत बार अपने पड़ोसी की धार्मिक मान्यताओं को न समझने के कारण ही आपसी गलत-फहमियां पैदा होती हैं। साम्प्रदायिक उपद्रवों का मूल कारण भी ऐसी नासमझियां ही होती हैं। इस स्थिति को संभालने का सबसे उत्तम उपाय तो यही है कि देश की जनता को अधिक से अधिक एक दूसरे के धर्म को जानने का अवसर मिले। सब विश्वविद्यालयों में विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों का पाठ्यक्रम हो। तर्क और बुद्धि की कसौटी पर उनका विश्लेषण और विवेचन किया जाये और सर्वधर्म—स्वीकृत जो तथ्य हों उनको राष्ट्र-धर्म के रूप में मनपने का अवसर दिया जाए। यह तो होता विवेक का मार्ग। इस मार्ग को प्रशस्त करने में जो पुस्तकें सहायक हो सकें उनका स्वागत किया जाना चाहिये। हम उक्त पुस्तक को इसी कोटि में गिनते हैं।

पहले सरकार को यह सिद्ध करना चाहिये था कि उक्त पुस्तक में लेखक ने अमुक ऐसी बात लिख दी है, जो हदीस में कहीं नहीं है। यदि उस पुस्तक में ऐसी कोई बात न हो, और फिर भी वह आपत्तिजनक प्रतीत हो, तो सरकार के विवेक

का तकाज़ा यह है कि वह उस हदीस को ज़ब्त करती, न कि इस पुस्तक को। परन्तु लगता है कि तुष्टिकरण की नीति से अंधी हुई सरकार की आंखों को विवेक का यह सीधा मार्ग नहीं दिखता।

इसी तुष्टिकरण की नीति का परिणाम यह है कि हिन्दुओं की उचित मांगों को भी साम्प्रदायिक कहकर ठुकरा दिया जाता है। सन् १९८५ में हिन्दू-रक्षा-दल के अध्यक्ष और मंत्री की ओर से एक पत्रक छापा गया था, जिसमें कुरान मजीद की २४ आयतें अंग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित की गई थीं और यह कहा गया था कि भारत में साम्प्रदायिक उपद्रवों की जड़ इस प्रकार की आयतें हैं। उन दोनों व्यक्तियों पर अभियोग चला और उन्हें गिरफ्तार किया गया। उसके बाद न्यायालय ने ३१ जुलाई १९८६ को उक्त दोनों महानुभावों को बरी करते हुए निर्णय दिया : “कुरान मजीद” की पवित्र पुस्तक के प्रति उचित आदर रखते हुए उक्त आयतों के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये आयतें अधिक हानिकारक हैं, और घृणा की शिक्षा देती हैं, जिससे मुसलमानों और देश के अन्य वर्गों में भेदभाव बढ़ने की सम्भावना है।”

इसी प्रकार कलकत्ता के न्यायालय में भी कुरान की ऐसी आयतों के विरुद्ध एक याचिका दायर की गई थी, जिसका विस्तृत विवरण हम गत वर्ष “आर्य जगत्” के सत्यार्थ प्रकाश विशेषांक में छाप चुके हैं। तथ्य अपने आप में पवित्र होते हैं। परन्तु उन तथ्यों का सामना करने की ताव हर एक में नहीं होती। सहिष्णुता की वहीं आवश्यकता पड़ती है। तथ्यों को छिपाने से भ्रम ही अधिक फैलता है। अगर सरकार को ऐसा लगता हो कि इस्लाम या किसी अन्य मत के माननीय ग्रन्थ के मत में लोकतंत्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता का सिद्धांत स्वीकरणीय नहीं है, तो उसको अपने संविधान में से इन दोनों मूलभूत सिद्धांतों को निकाल देना चाहिये। या फिर भारत में उन सिद्धांतों के विरुद्ध मान्यताओं का प्रचार करने वाले ग्रन्थों के प्रचार पर पाबन्दी लगनी चाहिये। एक तरफ सऊदी अरब जैसे कट्टर धर्मान्ध देश हैं, जो गीता और सत्यार्थ प्रकाश जैसे तर्क-संगत, और धर्म का सही मार्ग प्रशस्त करने वाले ग्रन्थों को अपने देश में सहन नहीं कर सकते, और दूसरी ओर हम हैं, जो गलत बात को भी गलत कहने से डरते हैं। यह अभिव्यक्ति की कैसी स्वतंत्रता है?

## मीरी और पीरी : और एक भ्रम

जब कभी सरकार की ओर से इस बात पर बल दिया जाता है कि धार्मिक स्थानों से राजनीति को अलग रखना चाहिये, तब-तब शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी और सिख-नेताओं की ओर से यह कहा जाता है कि हमारे लिये धर्म और राजनीति अलग नहीं है। इसलिये हमारे धर्मस्थान में यह दोनों चीजें साथ-साथ चलेंगी। जब प्रो० दर्शन सिंह रागी मुख्यग्रन्थी थे, तब उन्होंने अपनी इसी मान्यता के समर्थन में यह भी कहा था कि क्या राम-राज्य में धर्म और राजनीति आपस में घुले-मिले हुए नहीं थे? और महात्मा गांधी ने जिस राम-राज्य का स्वप्न लिया था क्या वह कभी बिना धर्म के सम्भव हो सकता था? विभिन्न धर्मों के आग्रही लोग धार्मिक स्थानों में राजनीतिक चर्चा या कार्य न होने देने के विरोध में इसी प्रकार के तर्क दिया करते हैं। सिख-बंधु यह भी कहते हैं कि न्याय से लड़ने के लिये गुरु गोविन्द सिंह ने जो खालसा सजाये थे, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चौथे गुरु श्री हरगोविन्द सिंह ने दो तलवारें धारण की थीं। वे कहा करते थे कि एक तलवार मीरी के लिये है, और दूसरी पीरी के लिये है। मीरी का अर्थ किया गया—इह लोक, भौतिक अभ्युदय, विज्ञान और राजनीति तथा पीरी का अर्थ किया गया—परलोक, धर्म, आध्यात्म और आत्मिक उन्नति।

जहां तक मीरी और पीरी के अर्थों का सम्बन्ध है, उनकी तुलना शास्त्रों द्वारा किये गये धर्म के इस लक्षण से की जा सकती है, जिसमें कहा गया है "यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः"—अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है। मीरी अभ्युदय की द्योतक और पीरी निःश्रेयस की। इस प्रकार ये दोनों ही धर्म के अंग हैं। वैदिक विचार धारा की परम्परा में यह बात शुरू से ही चली आई है। इसी बात को वेदादि शास्त्रों ने ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय का नाम दिया है। स्वयं वेद में कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।

तम् लोकम् पुण्यम् प्रज्ञेषम् यत्र देवाः सहाग्निना॥

जहां ब्रह्म और क्षत्र दोनों मिलते हैं, वहीं सुख और समृद्धि निवास करती है।

जहां आध्यात्म-परायण विद्वान् लोग अपनी उर्जस्वित कर्म-शक्ति से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, मैं उसी लोक को पुण्य लोक मानता हूं। इसी विचार परम्परा को आगे बढ़ाते हुए बाद के स्मृतिकारों ने यहां तक कहा—

**अग्रतश्चतुरोवेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।**

**इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥**

आगे-आगे चारों वेद और पीठ के पीछे तरकस के साथ धनुष। एक तरफ ब्रह्म-बल है दूसरी तरफ क्षात्र-बल है। इन दोनों को मिलाकर हम अन्याय और अत्याचार का निवारण करने के लिये अपनी मानसिक शक्ति अर्थात् शाप का भी प्रयोग करेंगे, और शारीरिक शक्ति अर्थात् धनुष-बाण का भी प्रयोग करेंगे। शस्त्र और शास्त्र का इसी प्रकार का मेल अन्याय के निवारण के लिये वैदिक काल से परम्परा-प्राप्त है। श्रीकृष्ण ने गीता में इसी का उपदेश देते हुए अर्जुन को युद्ध के लिये तैयार किया था। गीता के सार रूप में उसके अन्तिम श्लोक में यह भी कहा गया—

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।**

**तत्र श्री विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम॥**

—जहां योगेश्वर कृष्ण होंगे और धनुर्धर अर्जुन होगा, वहीं श्री-समृद्धि, विजय और कल्याण होगा, ऐसी मेरी दृढ़ मान्यता है। गीता के श्लोक में अर्जुन को मीरी का प्रतीक समझा जा सकता है, और योगेश्वर कृष्ण को पीरी का। वही अभ्युदय और निःश्रेयस वाली बात।

आज सारे संसार में जितने विचारशील लोग हैं, वे यह मांग करते नहीं अघाते कि जब तक विज्ञान के साथ आध्यात्मिकता को नहीं जोड़ा जायेगा, तब तक विज्ञान केवल विनाश का वाहन बनेगा। यदि आध्यात्मिकता के साथ विज्ञान को नहीं जोड़ा जायेगा तो निरीह आध्यात्मिकता मानव-जाति को पाखंडों और अन्ध-विश्वासों की ओर ले जायेगी। आध्यात्म-शून्य विज्ञान किस प्रकार परमाणु-शक्ति के महा-दानव के रूप में मनुष्य-जाति के विनाश पर उतारू है, यह सब देख रहे हैं। स्वयं महाशक्तियां भी इससे परेशान होकर अब आणविक प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने के समझौते कर रही हैं। दूसरी ओर आध्यात्मिकता के नाम पर जितनी कुरीतियां और अंधविश्वास पनप रहे हैं, उनके निवारण के लिये विभिन्न देशों की सरकारें नये-नये कानून बनाना अपना कर्तव्य समझती हैं। इसलिये विज्ञान और आध्यात्म के समन्वय की मांग आजकल के समस्त बुद्धिजीवी वर्ग की मांग है। यहां भी हम विज्ञान को मीरी के साथ और आध्यात्म को पीरी के साथ जोड़ सकते हैं। इसलिये मीरी और पीरी, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, और उनके समन्वय में ही मानव जाति का कल्याण निहित है।



इसके साथ सिख मानसिकता में एक बहुत बड़ा भ्रम भी जुड़ गया है, जिसका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। जिसको हम धर्म, आध्यात्म, निःश्रेयस या पारलौकिक उन्नति कहते हैं, और जिसे पीरी का पर्यायवाची समझते हैं, उसका सम्बन्ध केवल मानव की अन्तरात्मा के साथ है, किसी कर्मकाण्ड या बाहरी चिह्न या सामाजिक क्रियाकलाप के साथ नहीं। जो भ्रम प्रचलित है, वह यह है कि विभिन्न मतमतान्तरों के बाह्य चिह्नों को, या कर्मकाण्ड को या वेष-विन्यास को अपने धर्म का - कहना चाहिये कि पीरी का पर्यायवाची मान लिया है। जब गुरु गोविन्द सिंह ने पंच ककार को खालसा के लिये आवश्यक बताया था, तो वह एक तरह का सैनिकों का गणवेश (मिलीटरी यूनीफार्म) था। इसी प्रकार का पंच ककार कभी महाराजा नल के श्वसुर भीम ने अपने सैनिकों को धारण करवाये थे। इन पंच ककारों में से प्रत्येक की रणक्षेत्र में अपनी उपयोगिता है। ये पंचककार आपद्-धर्म के प्रतीक हैं। जब कभी विदेशी, विधर्मी और आततायी आक्रमणकारी से सामना हो तो देश के प्रत्येक नागरिक का आपद्-धर्म के रूप में सैनिक गणवेश धारण करके रणक्षेत्र में जाना अपना कर्तव्य होता है। परन्तु इससे वह गणवेश उसका सार्वकालिक अनिवार्य धार्मिक चिह्न नहीं बन जाता। कोई इस पंचककार को अपना धार्मिक चिह्न मानना चाहे तो उसको मानने की पूरी छूट है। पर यह केवल बाहरी चिह्न हैं, जिनका आध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये पीरी के अंग नहीं हैं, केवल मीरी के अंग हैं। मीरी आपद्-धर्म है, पीरी सार्वकालिक और सार्वत्रिक धर्म है। इसी प्रकार की बात माथे पर तिलक, चोटी, जनेऊ, या धोती और टोपी के बारे में भी की जा सकती है। वे बाहरी चिह्न हैं, और वे धार्मिक कर्मकाण्ड के अंग भी हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध आध्यात्म के साथ नहीं है। इसलिये जो व्यक्ति किसी धर्म-विशेष द्वारा प्रतिपादित चिह्नों को धारण नहीं करता, उसे अधार्मिक या काफिर नहीं कहा जा सकता।

संसार में जितने तरह के मत फैले हुए हैं, उनके पीछे व्यक्ति-विशेष, या अमुक समय की तात्कालिक आवश्यकताएं कारणीभूत रहीं हैं। और उन मतों के प्रवर्तकों ने अपने अनुयायियों के लिये अमुक-अमुक चिह्नों को धारण करना और अमुक-अमुक कर्मकाण्ड को दैनिक जीवन का अंग बनाना भले ही आवश्यक लगा हो, परन्तु वे किसी भी हालत में शाश्वत धर्म का अंग नहीं कही जा सकती हैं। शाश्वत धर्म वही होता है जो संसार के सब मनुष्यों पर और सब कालों में समान रूप से लागू होता है। आपद् धर्म केवल आपत्तिकाल के लिये होता है, और वह शाश्वत नहीं होता। अधिकांश मत-मतान्तरों ने इसी भ्रम के वशीभूत होकर अपने मतों के विभिन्न कर्मकाण्डों और चिह्नों को शाश्वत धर्म का अंग मान लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सामयिक धर्म था वह शाश्वत बन बैठा, और जो शाश्वत धर्म

था उसकी सर्वथा उपेक्षा हुई। जितना धार्मिक राग-द्वेष, मनोमालिन्य और आपसी वैर-भाव है, वह इन्हीं बाहरी चीजों को लेकर ही है, और वे सब मर्तों में अलग-अलग है। इसलिये हम कहते हैं कि मर्तों को मत या मज़हब या पंथ या दार्शनिक और वैचारिक सम्प्रदाय तो कहा जा सकता है, उनको धर्म की मूल परिभाषा में नहीं गिनना चाहिये। सबसे बड़ी भूल यही हो गई कि मीरी और पीरी की बात एक साथ करते-करते मीरी पीरी पर हावी हो गई, और पीरी हवा में लुप्त हो गई।

इस मनोवृत्ति का परिणाम यह भी हुआ कि मीरी को राजनीति का द्योतक समझा गया, इसलिये आधुनिक राजनीति के सारे दोष भी उसके अन्दर आ गये, और उन सब दोषों का पीरी के नाम पर समर्थन किया जाने लगा। हमारे कहने का भाव यह है कि मीरी और पीरी दोनों आवश्यक हैं। परन्तु दोनों का स्थान और क्षेत्र अलग हैं। रणक्षेत्र में केवल मीरी चाहिये, और उपासना-स्थल पर केवल पीरी चाहिये। इन दोनों का समन्वय वहां तक तो समझ में आता है, जहां तक वे शाश्वत धर्म के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं करते, लेकिन जब इस समन्वय के नाम पर सत्ता-प्राप्ति, राजनैतिक छल-छन्द और मानव जीवन के समस्त जघन्य कृत्यों का समर्थन किया जाने लगता है, तो मीरी मानव जीवन के लिये कलंक बन जाती है, वह धर्म नहीं अधर्म होती है।

सिख-मानसिकता का अभिशाप यही है कि वह मीरी को पीरी समझ बैठे हैं और पंचककार को ही सिख धर्म का सार समझ बैठे हैं। यह मानसिकता इस हद तक चली गई है कि इसी के कारण स्वर्ण-मन्दिर को ऐसे कृत्यों से अलग नहीं रखा जा सका, जो धर्म अर्थात् पीरी के नाम पर कलंक हैं, मानवता के नाम पर कलंक हैं। कहने को आतंकवादी भले ही मुख्यग्रन्थियों की घोषणाओं के अनुसार सिख न माने जायें, किन्तु सिख जन-साधारण केवल इसीलिये उन आतंकवादियों के विरोध में मुंह नहीं खोलता, क्योंकि वे पंचककार को धारण करने वाले हैं। मीरी को पीरी समझने का भ्रम इस मानसिकता की सबसे बड़ी दुर्बलता है।

## कांची और पुरी

दक्षिण भारत में कांची कामकोटि-पीठ और पूर्वी भारत में जगन्नाथ-पीठ, दो ऐसे तीर्थ-स्थान हैं जो समस्त हिन्दु समाज के लिए पूज्य हैं। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, वैचारिक दृष्टि से भी ये दोनों पीठ जैसे दो ध्रुवों पर विद्यमान हैं। दोनों पौराणिक हिन्दु समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों के अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है, परन्तु उन दोनों के विचारों में अन्तर है। जगन्नाथ पुरी के शंकराचार्य, स्वामी निरंजन देव तीर्थ, यदि अपने दम्भ में और समाज में विघटन पैदा करने वाले अपने दकियानूसी, कालातीत और युग-विरोधी विचारों में बेजोड़ हैं; तो दूसरी ओर कांची कामकोटिपीठ के शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती स्वामी अपने जन-जागरण और जन-कल्याण सम्बन्धी विचारों के कारण युगधर्म के अनुरूप शास्त्रों की व्याख्या करने के आन्दोलन से प्रेरित हैं। पुरी के शंकराचार्य द्वारा समय-समय पर रित्रियों और शूद्रों के सम्बन्ध में जो बयान दिये जाते रहे हैं, उनसे हिन्दु समाज के समस्त प्रगतिशील तत्त्व उत्तेजित होकर उनका खंडन करते रहे हैं। ऐसे अवसरों पर अन्य शंकराचार्यों ने मौन धारण करके जहां पुरी के शंकराचार्य को प्रच्छन्न समर्थन दिया, वहां नाथद्वारा के मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश को निषिद्ध बताने वाले स्वामी निरंजन देव तीर्थ के बयान के विरोध में अब भी केवल कांची कामकोटिपीठ के शंकराचार्य ने ही ज़बान खोली है, जबकि अन्य शंकराचार्य अब भी मौन हैं। शायद वे अपने दार्शनिक जगत्-मिथ्यावाद के सिद्धान्त में इतने लीन हैं, कि उन्हें देश में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं से कोई वास्ता ही नहीं। जिस हिन्दु समाज के धर्मगुरु अपने ही समाज के अहित और हित के प्रति इतनी अधिक उदासीनता का भाव धारण करते हों, उस समाज के उद्धार का क्या उपाय है? और वर्तमान युग में ऐसे धर्मगुरुओं की भी क्या उपयोगिता है?

हरिजनों के नाथद्वारा मन्दिर में प्रवेश के प्रश्न को लेकर जब अन्दर ही अन्दर उबलता हिन्दु समाज अपने आक्रोश को प्रकट करने का कोई उपाय नहीं सोच पा रहा था, तब उस आक्रोश को एकमात्र रचनात्मक दिशा दी आर्य समाज ने, और स्वामी अग्निवेश ने। जब स्वामी अग्निवेश ने सैकड़ों आर्य समाजियों और हरिजनों को साथ लेकर उदयपुर से नाथद्वारा की पदयात्रा प्रारम्भ की, तो जहां

समाज की सब प्रगतिशील ताकतें उनके पक्ष में मुखर हो उठीं, वहीं प्रतिगामी ताकतें भी उतने ही जोरशोर से सक्रिय हो उठीं। यह मनोविज्ञान का स्वाभाविक नियम है, क्रिया की प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रिया की फिर प्रतिक्रिया। एक श्रृंखला शुरू हो जाती है, उसे अस्वभाविक नहीं कहा जा सकता। परन्तु सबसे विचित्र रोल रहा सरकार का। सरकार की अपनी भी लाचारी है, क्योंकि वह जिस लोकतंत्र के रथ पर सवार है, उस रथ के पहिए जनता के वोटों से चलते हैं। यदि जनता का कोई वर्ग सरकार से नाराज हो जाये तो उस रथ का वही पहिया टूट जायेगा। इसलिये सरकार न हरिजनों को नाराज कर सकती है, न सवर्णों को नाराज कर सकती है, क्योंकि इनके वोटों के बिना उसका अस्तित्व ही संकटापन्न बन जाता है। इसलिये वह सदा “रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति” की नीति पर चलती है। पर इस नीति के कारण वह उतनी अधिक अन्तःसार-विहीन भी बनती चली जाती है।

सरकार द्विजिह सांप की तरह न केवल दोहरी ज़बान बोलती है, वरन् इस तरह समाज में सत्य और असत्य को एक तुला पर रख कर विष भी घोलती है। सरकार एक ओर तो यह घोषणा करती है कि हरिजनों के नाथद्वारा मन्दिर में प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, और दूसरी ओर स्वामी अग्निवेश जब इस घोषणा को अमल की कसौटी पर कसना चाहते हैं, तब वह उन्हें गिरफ्तार कर लेती है। इतना ही नहीं शिवसेना के नाम से असामाजिक तत्त्वों के एक गिरोह को जवाबी पद-यात्रा के लिए तैयार करती है, ताकि कानून और व्यवस्था के भंग होने के नाम पर स्वामी अग्निवेश की पद-यात्रा को बलात् रोका जा सके। यही नीति दिवसाला की सती-प्रथा-विरोधी पद-यात्रा के समय अपनाई गई, और यही नीति पुरामहादेव की पद-यात्रा के समय अपनाई गई। यह नीति नहीं दुर्नीति है, यह सरकार का काईयांपन है। एक ओर कानून और व्यवस्था के भंग होने का बहाना है, और दूसरी ओर संविधान में वर्णित व्यवस्थाओं को लागू करने के लिए — जो कि असल में सरकार का काम होना चाहिए— जो लोग आगे बढ़ते हैं, उन्हीं के पैरों में बेड़ियां डालती है। सरकार से पूछा जा सकता है कि यदि किसी कानून का पालन नहीं करना है, तो वह कानून बनाया ही क्यों जाता है? क्या सरकार के पास इसका कोई उत्तर है? अपने संविधान और कानूनों की दृष्टि से सरकार अपनी प्रगतिशीलता का जो मुखौटा पेश करना चाहती है, उसके इस प्रकार के आचरण से उस पर कालिख पुत जाती है। हद तो तब होती है जब स्वयं राजस्थान-सरकार के महाधिवक्ता अदालत में बयान देते हैं कि “यदि स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में हरिजनों ने मन्दिर में प्रवेश कर लिया, तो उससे राष्ट्र की सम्प्रभुता, अखंडता और एकता को खतरा उपस्थित हो जायेगा।” हम पूछते हैं कि फिर तो संविधान के

उस अनुच्छेद से भी राष्ट्रीय अखंडता को खतरा होना चाहिए जिसमें समस्त भारतवासियों को धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति और पूजा-पद्धति की स्वतन्त्रता दी गई है। यदि अस्पृश्यता मानव समाज का कलंक है, तो उस अस्पृश्यता के निवारण से मानव-समाज और राष्ट्र का कलंक बढ़ेगा या धुलेगा? परन्तु अपने आपको अक्ल के एकमात्र ठेकेदार समझने वाले लोग कभी किसी अक्ल की बात को सुनने को कहां तैयार होते हैं?

आश्चर्य की बात है कि दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की नीति के विरुद्ध संघर्ष करने वाले, २६ साल से जेल में बंद, मण्डेला की रिहायी के लिए तो भारत-सरकार आन्दोलन करती है; परन्तु अपने ही देश में जातिभेद और छुआछूत को मिटाने के लिए सतत संघर्षरत आर्य समाजियों को तत्काल गिरफ्तार करती है। कुछ लोगों ने कहा कि "आर्यसमाजी तो मूर्तिपूजक नहीं हैं, मन्दिर में प्रतिष्ठित देवताओं के प्रति उनकी तो कोई आस्था नहीं है, फिर वे हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के लिए क्यों आन्दोलन कर रहे हैं?" यह प्रश्न सिवाय मक्कारी के और कुछ नहीं है; क्योंकि यहां मामला मूर्ति में आस्था या अनास्था का नहीं है। यहां प्रश्न मानवाधिकार का है, और इस नाते में जहां भी कहीं मानव-अधिकारों का हनन होगा, वहां आर्य समाज के नेताओं को आगे आना ही होगा। हम पहले भी लिख चुके हैं कि अज्ञान, अन्याय और अभाव के विरुद्ध लड़-मरने का जीवट यदि किसी आर्य समाजी में नहीं है, तो उसे अपने आप को आर्य समाजी कहने का अधिकार नहीं है। आर्य समाजी बनने का मतलब ही यही है कि मानव जाति के उक्त तीनों महान् शत्रुओं को जड़मूल से उखाड़ने के लिए सन्नद्ध होकर वह मैदान में उतर पड़े। वर्ण-व्यवस्था का सारा आदर्श भी इसी महान् अभियान से जुड़ा है। जो अज्ञान रूपी शत्रु के निवारण में अपना जीवन लगाता है वह ब्राह्मण है, जो अन्याय के निवारण के लिए खड़गहस्त होता है वह क्षत्रिय है, और जो अभाव के निवारण के लिए अपने समस्त साधनों का उपयोग करता है वह वैश्य है, और जो मानवता के महान् शत्रु आलस्य, विलास और शोषण को दूर करने के लिए श्रम करता है वह शूद्र या श्रमिक है। महात्मा गांधी ने इसी कोटि को हरिजन नाम दिया है उन्हीं के उत्थान के लिए सरकार दिन-रात आन्दोलन करती है, उन्हें आरक्षण देती है और संविधान में छुआछूत के निवारण की व्यवस्था करती है। यह एक तरह से वही उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति के लिए ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की।

इसके अलावा एक पहलू और भी है जिसके कारण इस प्रकार की भूमिका में आर्य समाज का अग्रणी होना सार्थक सिद्ध होता है। वह पहलू यह है कि न केवल आजादी से पहले, बल्कि हरिजनोद्धार के लिए महात्मा गांधी द्वारा आवाज बुलन्द

करने से भी बहुत पहले, यदि देश में कोई ऐसी संस्था थी जिसके कार्यकर्ताओं ने अस्पृश्यों और दलितों के उद्धार के लिए केवल आवाज ही बुलन्द नहीं की, बल्कि निरन्तर संघर्ष किया, सामाजिक बहिष्कार सहा, स्वयं कष्ट में जीवन बिताया, और अनेक आर्य-वीरों ने अपने जीवन की आहुति तक दी, तो वह केवल आर्य समाज है। इसलिए अब भी इस काम में आर्य समाज को अगुवाई करनी ही होगी। जब तक तथाकथित हरिजनों से सामाजिक भेदभाव का बर्ताव दूर नहीं होता, तब तक स्वामी अग्निवेशों और उनके साथियों के लिए शांत होकर बैठने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभी तो संघर्ष शुरू हुआ है। अभी तो केवल कांची के शंकराचार्य ही हरिजनों के पक्ष में बोले हैं। लेकिन अब सुना है शिव-सेना वाले भी १५ अगस्त के दिन हरिजनों की भीड़ को साथ लेकर नाथद्वारा के मन्दिर में प्रवेश करने की योजना बना रहे हैं। तो यह शुभ लक्षण है। परन्तु आर्य वीर तब तक शांत होकर बैठने वाले नहीं हैं, जब तक न केवल समस्त धर्मगुरु और शंकराचार्य, वरन् पूर्व पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में फैला हिन्दू समाज अस्पृश्यता के कलंक से मुक्त होने का दृढ़ निश्चय नहीं कर लेता।

३१ जुलाई १९८८



## आर्यसमाज और कांग्रेस

आर्यसमाज की स्थापना के पीछे ऋषि दयानन्द का उद्देश्य आर्यावर्त के प्राचीन गौरव को और उसकी अस्मिता को जगाना था; जबकि कांग्रेस का उद्देश्य प्राचीन गौरव के बजाय ब्रिटिश शासन में ही अपने-आपको गौरवान्वित समझने का प्रच्छन्न परामर्श था। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के बाद भारत के बुद्धिजीवियों को अपने पक्ष में करने के लिए जहां लॉर्ड मैकाले की शिक्षा-पद्धति के स्कूल-कॉलेज खोलने का अभियान प्रारम्भ हुआ; वहां १८७५ से आर्यसमाज के माध्यम से 'स्व' की ओर अभिमुख होने वाले बुद्धिजीवियों को 'पर' की ओर प्रेरित करने के लिए १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। एक तरह से कहा जा सकता है कि आर्यसमाज के आन्दोलन के जवाब में ही 'लॉर्ड ह्यूम' ने अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों के बीच में अंग्रेज-मुख्यापेक्षी राजनीतिक चेतना जमाने के लिए कांग्रेस की स्थापना की थी।

(असलियत क्या है? पृष्ठ ११)

## शाहबुद्दीन उवाच

विजय-दशमी का पर्व ज्यों-ज्यों निकट आता जा रहा है, त्यों-त्यों राम-जन्मभूमि, अयोध्या और बाबरी मस्जिद के प्रश्न के कारण देश के वातावरण में तनाव के लक्षण बढ़ते जा रहे हैं। अभी तक इस विषय में कोई उभय-पक्ष-सम्मत समाधान नहीं निकल पाया। उसकी सम्भावना भी नहीं है क्योंकि इस मामले में दोनों पक्षों में से कोई भी झुकने को तैयार नहीं है। फिलहाल वातावरण में गर्मी का कारण श्री शाहबुद्दीन द्वारा १४ अक्टूबर को मुसलमानों के अयोध्या की ओर मार्च को लेकर उत्पन्न हुआ। कोई भी क्रिया प्रतिक्रिया को जन्म दिये बिना नहीं रहती। जब शाहबुद्दीन ने यह ऐलान किया तो न केवल उत्तर प्रदेश के बल्कि समस्त भारत के विशाल हिन्दू समाज के मन में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वभाविक था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये श्री शाहबुद्दीन कुछ सालों से जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह देश को विघटन की ओर ले जाने वाला रास्ता है। शाहबुद्दीन ने यह रास्ता जानबूझ कर चुना है। इसलिये हिन्दू समाज के मन में अगर ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसका प्रदर्शन अलीगढ़ और मुजफ्फरनगर में बन्द के दौरान हुए दंगों से हुआ है, तो यह परिणाम शाहबुद्दीन का मनचीता ही होना चाहिये। क्योंकि जितना-जितना क्रिया-प्रतिक्रिया का यह दौर चलेगा, देश के विघटन की भूमिका उतनी ही प्रबल होती चली जायेगी।

कुछ लोग समझते हैं कि पाकिस्तान का निर्माण करने वाले कायदे-आज़म मोहम्मद अली जिन्ना के पश्चात् कोई दूसरा जिन्ना पैदा नहीं होगा। परन्तु शाहबुद्दीन अपने कारनामों से उन भूले लोगों की इस भूली समझ को झुठलाने पर तुले हुए हैं, और वे स्वयं जिन्ना के पदचिन्हों पर चलते हुए देश के एक और विघटन का श्रेय अपने सिर लेकर इतिहास में अमर होना चाहते हैं। भले ही देश के ८५ प्रतिशत लोगों के मन में उनकी छवि कैसी ही क्यों न हो, परन्तु वे अपनी कूटनीति-परक राजनीति से देश के चन्द्रशेखर जैसे नेताओं को अपनी मुट्ठी में ले चुके हैं। हमने ८५ प्रतिशत की बात कही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाकी १५ प्रतिशत लोगों के मन में भी श्री शाहबुद्दीन की छवि कोई बहुत साफ-सुथरी है। स्वयं जिस मुस्लिम समाज का वे नेतृत्व करना चाहते हैं, उसमें भी अधिकांश उनके पक्ष में नहीं हैं

और सैयद इमाम बुखारी और शाहबुद्दीन की, एक दूसरे को आंखों-देखी न सुहाने वाली परस्पर नेतागिरी की होड़ भी जग-जाहिर हो चुकी है। परन्तु "मेरा टट्टू यहीं अड़ा" के उपासक शाहबुद्दीन मुस्लिम समाज में भी बीच चौराहे पर अपना टट्टू अड़ाये खड़े हैं और जिस संकीर्ण साम्प्रदायिकता और इस्लाम-परस्ती का वे नारा लगा रहे हैं, उससे उनको विश्वास है कि एक दिन मुस्लिम आवाम झक मारकर उनके पीछे आयेगा। क्योंकि केवल मुस्लिम समाज ही क्यों, समस्त अल्पसंख्यक वर्गों की यही मनोवृत्ति दिखाई देती है कि जो नेता जितनी उग्र वाणी बोले वे अन्ततः उसी के पीछे हो लेते हैं।

श्री शाहबुद्दीन की एक बात के लिये तारीफ़ करनी होगी कि वे अपनी बात में कभी लाग-लपेट नहीं आने देते, और कभी दो अर्थों वाली भाषा नहीं बोलते। कितनी ही आलोचना होने पर भी वे कभी अपनी मंशा नहीं छुपाते। श्री शाहबुद्दीन खुले-आम कहते हैं कि हिन्दुओं को शासन करना नहीं आता। शासन करने की कला तो केवल मुसलमानों को आती है। अंग्रेज़ इस देश पर २५० साल से अधिक राज्य नहीं कर पाये, परन्तु मुसलमानों ने ७०० साल तक हिन्दुस्तान पर हुकूमत करके शासन करने की अपनी योग्यता साबित कर दी है। इसलिये हिन्दुस्तान का शासन भविष्य में मुसलमान ही करेंगे, क्योंकि हिन्दू अयोग्य साबित होते हैं। अपनी बात को आधुनिकता का जामा पहनाते हुए वे इतना और जोड़ देते हैं—पहले हमने शस्त्रों के बल पर हुकूमत की थी, किन्तु आजकल का ज़माना वोट-रूपी हथियार का है। इसलिये हम वोट के बल पर अपना बहुमत स्थापित करके हिन्दुस्तान की हुकूमत पुनः अपने हाथ में लेंगे। इस काम में कितना समय लगेगा, इसकी हमें चिन्ता नहीं है। परन्तु वे अपने अनुयायियों को विश्वास दिलाते हैं कि वह समय बहुत दूर नहीं है जब सारे हिन्दुस्तान में मुसलमान बहुमत प्राप्त कर लेंगे। अपनी इसी मंशा को पूरा करने के लिये वे 'मुस्लिम इण्डिया' नामक अखबार निकालते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह भारत हिन्दुओं का स्थान ही है, मुसलमानों का स्थान नहीं है। हिन्दू तो हमेशा शासित होने के लिये पैदा हुए हैं, और मुसलमान शासक बनने के लिये।

इसका प्रमाण यह है कि जो मुस्लिम देश हैं, वहां तो कट्टर इस्लाम का शासन है ही। परन्तु जो मुस्लिम-देश नहीं हैं, उन देशों के मुसलमान हमेशा तत्कालीन शासकों के प्रति विद्रोह की मुद्रा में ही खड़े दिखाई देते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में गैर-इस्लामी देशों को इस्लाम के झण्डे के नीचे लाना ही असली मुसलमान होना है। इस्लाम अपने मूल में ही लोकतन्त्र का विरोधी और तानाशाही का उपासक है। इसलिये जहां-जहां इस्लाम है वहां-वहां लोकतन्त्र नहीं है, और इस्लामी देशों में लोकतन्त्र को दबाने के लिये ही सदा इस्लामीकरण का नारा दिया जाता है।



पाकिस्तान और बांग्लादेश इसके उदाहरण हैं ही। जनरल जिया के बाद पाकिस्तान जिस माहौल से गुज़र रहा है, उसमें भी इस्लामीकरण और लोकतन्त्र ये दोनों परस्पर विरोधी खेमें में बंटे हुए हैं, और आगामी चुनावों में शायद यह स्पष्ट हो कि क्या वहां कभी लोकतन्त्र आ पायेगा?

श्री शाहबुद्दीन के चिन्तन का एक पहलू और भी है। उनका कहना है कि सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया में केवल मात्र हिन्दुस्तान ही एक ऐसे क्षेत्र की तरह से पड़ा हुआ है, जो गैर-मुस्लिम है। और बाकी सब देश इस्लाम के झण्डे के तले आ चुके हैं। इस क्षेत्र को हटाकर हिन्दुस्तान को भी इस्लामी इबारत के मूलपाठ में शामिल करना ही उनका राजनैतिक उद्देश्य है और यह उद्देश्य बड़ी आसानी से समस्त इस्लामी देशों की सहानुभूति बटोर लेता है। हर एक इस्लामी देश इस क्षेत्र को हटाने के लिये अपनी ओर से भावभिभूत होकर तथा अपना यह पवित्र कर्तव्य समझकर इस काम में यथा सम्भव सहायता करने को तैयार रहते हैं। सऊदी अरब अपने धन के बल पर, और पाकिस्तान तथा बांग्लादेश अपने जन के बल पर। पाकिस्तान और बांग्लादेश से मुसलमानों की भारी संख्या में घुसपैठ इसी रणनीति का परिणाम है। और तो और, बांग्लादेश और असम की सीमा पर स्थित किशनगंज नामक स्थान पर अचानक ईरानियों का इतना जमघट इकट्ठा हो गया है कि उसका कोई औचित्य समझ में नहीं आता। उन ईरानियों के पास खेती-बाड़ी के लिये ज़मीन नहीं है, वे किसी उद्योग धंधे में लगे हुए नहीं हैं, पर जिस शान शौकत से वे रहते हैं, उससे यही अंदाज़ होता है कि उनका एकमात्र धंधा केवल तस्करी है। देश का दुर्भाग्य यह है कि हमारी सत्ता पर बैठे सभी नेता इस तरह विधर्मी और विदेशी घुसपैठियों को अपना वोट-बैंक समझकर उनको प्रश्रय देते हैं, और राजनेताओं के प्रश्रय के कारण ही आम हिन्दू-जनता इन घुसपैठियों के सामने दबकर रहने को विवश होती है।

तस्कर सम्राट् हाजी मस्तान का नाम कौन नहीं जानता? सारे उत्तर प्रदेश में तथा अन्य पर्याप्त मुस्लिम आबादी वाले प्रदेशों में दौरा करके के हाजी मस्तान ने मुस्लिम दलित संघ बनाया है। दलितों के नेता काशीराम के साथ भी उसकी सांठगांठ है, और आगामी चुनावों में वे मुस्लिम और दलित लोगों को साथ मिलाकर अपने पैसे के बल पर कोई चमत्कार करने की सोच रहे हैं। हम सोचते हैं कि जिस व्यक्ति को सीखच्चों के पीछे होना चाहिये था, वह व्यक्ति इस तरह कैसे दनदनाता हुआ नेता बना घूमता है। तो इसका समाधान करने वाले जानकार लोग बताते हैं कि शासन की कुर्सियों पर बैठे राजनेताओं का वरदहस्त जिसके सिर के ऊपर हो, और जिसके पैसे के बल पर उनके जलसे, जुलूस और बड़ी-बड़ी

रैलियां निकलती हों, उस महापुरुष के लिये जेल के सीखचें नहीं, फूलों की मालाएं ही सब जगह नज़र आएंगी।

देवबन्द के मौलवी यह फतवा दे चुके हैं कि हिन्दुस्तान भले ही दारुल इस्लाम (इस्लामी देश) न हो, किन्तु वह दारुल अमन (शान्ति प्रिय देश) है, इसलिये वहां बाबरी मस्जिद जैसे सवाल को लेकर इस देश के अमन को भंग करने की ज़रूरत नहीं है। परन्तु शाहबुद्दीन साहब जिन्ना बनने का ख्वाब देखते हुए उस फतवे को भी कबूल करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि शान्ति और अमन उनके सपने को पूरा करने में बाधक है। अब वे कहते हैं कि बाबरी मस्जिद के सवाल को न्यायालय को सौंप देना चाहिये। परन्तु न्यायालयों की उनके मन में कितनी इज्जत है, यह भी हम जानते हैं। इसका प्रमाण है शाहबानो का केस। आखिर शाहबुद्दीन जैसे लोगों ने ही अन्य मुल्ला मौलवियों को भड़काकर सरकार को प्रभावित करके सुप्रीम कोर्ट का फैसला भी बरतारफ करवा दिया। इसलिये न्यायालय तो केवल बहाना है। शाहबुद्दीन साहब का कहना है कि न तो अयोध्या कोई पुरानी नगरी है, और न ही राम नाम का कोई व्यक्ति हुआ है। यह तो तुलसीदास ने इन दोनों का महत्त्व बढ़ा दिया, नहीं तो इन दोनों का कोई महत्त्व नहीं था और बाबर निश्चित रूप से तुलसीदास से पहले हुआ है। इसलिये उनकी दृष्टि में बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि से पहले मौजूद थी। इनके इस ज्ञान की बलिहारी!

१६ अक्टूबर १९८८



### महात्मा गांधी और भारत-विभाजन

महात्मा गांधी अन्त समय तक देश के विभाजन के विचार से सहमत नहीं हो पाये। परन्तु उनके जीते जी ही पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया और उसको वे रोक नहीं सके। निश्चित रूप से अगर महात्मा गांधी उस समय डट जाते और नेहरू और पटेल का विरोध सहकर भी देश के विभाजन का विरोध करते तो उसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र उनका साथ देता। पर लगता है कि महात्मा गांधी भी अपना आत्मिक बल खो चुके थे। इस आत्मिक बल को पुनः उजागर करने के लिए उन्होंने पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया दिलाने के लिए आग्रह अनशन बेशक किया, परन्तु तब तक तीर हाथ से निकल चुका था और महात्मा गांधी देश की जनता के साथ-साथ अधिकांश कांग्रेस-जनों की सहानुभूति भी खो चुके थे।

‘असलियत क्या है?’ पृष्ठ ५-१६

## सुभाषित

लहू इन्सां का जायज़ है, दुखतरे दाख नाजायज़।  
बताओ कैसे लाएं, ईमां ऐसे ईमां पर।।  
जुनूने खुदी का ये ऐज़ाज़ देखो।  
कि जब मौज़ आई, खुदा हो गए हम।।  
सत्य की हत्या के लिए जरूरी नहीं।  
रायफल और तलवार।।  
इतना ही काफी है, जोर से बोल दे।  
सत्य की जय-जयकार।।  
फूटी आंख विवेक की, लखे न सन्त असन्त।  
जाके संग दस-बीस हैं, ताके नाम महन्त।।

## शैतानी आयतों की करामात

सलमान रश्दी रातों-रात जिस तरह संसार में सबसे अधिक चर्चित व्यक्ति हो गए हैं, वह अपने आप में एक अनोखी घटना है। शायद ही इतने कम समय में इतना अधिक चर्चित और कोई लेखक आज तक हुआ होगा। रश्दी की इस प्रसिद्धि में कई ऐसे पहलू उभर कर सामने आये हैं, जो मानव-जाति और देश के भविष्य के लिये कोई बहुत शुभ-सन्देश लाने वाले नहीं हैं। इससे पहले भी अनेक लेखकों की रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगे हैं। और कई विश्वविख्यात लेखकों को अपने वतन से निर्वासित तक होना पड़ा है। सुकरात से लेकर आज तक न जाने कितने व्यक्तियों को अपने विचारों की स्वतन्त्रता के कारण सही अर्थों में ज़हर के प्याले पीने पड़े हैं। परन्तु रश्दी की इस प्रसिद्धि में मूल कारण उसकी किताब, या उसका विचार-स्वातन्त्र्य, या अनेक देशों में उसकी पुस्तक पर प्रतिबन्ध नहीं है। असली कारण है ईरान के अधिनायक अयातुल्ला खुमैनी द्वारा उसकी हत्या का फरमान जारी किया जाना। ऐसा सौभाग्य आज तक शायद ही किसी लेखक को मिला हो! रश्दी की किताब से भी अधिक चर्चित इस समय खुमैनी का वह फतवा है जिसने सारे संसार के बुद्धिजीवियों, कट्टरवादियों, उदारतावादियों और सम्प्रदायवादियों को भी झकझोर दिया है।

रश्दी ने इससे पहले जो किताबें लिखी हैं वे भी बहुत चर्चित रही हैं, और साहित्यकार के नाते वे प्रतिष्ठित भी हुए हैं। परन्तु उनकी प्रायः सभी किताबें

विवादास्पद रही हैं। साहित्य को समाज-हित का साधन समझने वाले साहित्यकारों की दृष्टि से रश्दी की किताबें बहुत सुरुचि-पूर्ण भी नहीं कही जा सकतीं। परन्तु आजकल के युग में जिस प्रकार के उपन्यासों को 'बैस्ट सैलर' के रूप में लोग हाथों-हाथ उठा लेते हैं, वैसा ही कुछ रश्दी की किताबों के साथ भी होता रहा है। उसकी नवीनतम किताब 'सैटैनिक वर्सेज' ने तो पुराने सब रिकार्ड ही तोड़ दिये हैं। न केवल उसकी लाखों प्रतियां बिकी हैं, बल्कि अग्रिम रायल्टी के रूप में अमरीकी प्रकाशक ने रश्दी को दो करोड़ डालर भी दे दिये हैं। रश्दी की युगानुरूप रुचि के कारण इस बढ़ती लोकप्रियता को देखकर स्वयं ब्रिटिश लेखकों के बीच में इसके प्रति ईर्ष्या का उदय होना असम्भव नहीं है। हम समझते हैं कि खुमैनी के फतवे के पीछे उन ब्रिटिश समीक्षकों द्वारा रश्दी की किताब के बारे में की गई वे उपहासपूर्ण समीक्षाएं ही अधिक हैं, जिन्होंने लेखक को जनता की दृष्टि में ज़लील करने का प्रयत्न किया है।

"सैटैनिक वर्सेज" (शैतानी आयतें) गतवर्ष अक्टूबर में छपी थी, और उसके बाद शायद उस पर प्रतिबन्ध लगाने वाला सबसे पहला देश भारत ही था। समस्त भारतीय बुद्धिजीवियों ने उस समय कम आक्रोश प्रकट नहीं किया था। परन्तु अब खुमैनी द्वारा रश्दी की हत्या का फ़रमान जारी करने के बाद तो वे भारतीय बुद्धिजीवी भी जो अपने आपको प्रगतिवादी कहकर दूसरों को प्रतिक्रियावादी कहने में कभी संकोच नहीं करते, अपना मुंह सीये बैठे हैं। कारण यह है कि अब यह केवल साहित्य या लेखक का विषय नहीं रहा, यह इस्लाम और गैर-इस्लाम का विषय बन गया है। अब इसकी बागडोर उन लोगों के हाथ में आ गई है जिनके सामने धर्म, साहित्य, बुद्धि या तर्क नहीं, केवल धौंस की राजनीति होती है। तथाकथित प्रगतिवादी इतने हिम्मती कभी नहीं रहे जो कभी ऐसे वातावरण के विरुद्ध ज़बान खोलने की हिम्मत कर सकें।

भारत में यह पुस्तक न छपी, न बिकी, और सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाए जाने के बाद न आ पाई, और न यहां के लोगों ने पढ़ी। इसके अपवाद के रूप में केवल उंगलियों पर गिने जाने योग्य चन्द पहुंच वाले बुद्धिजीवी होंगे, जिन्होंने किसी न किसी तरह पुस्तक हस्तगत करके उसे पढ़ा हो। कम से कम आम जनता ने तो उसे बिल्कुल पढ़ा तो क्या, देखा भी नहीं। और फिर अंग्रेज़ों के ढंग की जिस अंग्रेज़ी में और उन्हीं के मुहावरे में वह पुस्तक लिखी गई है, उसको अंग्रेज़ीदां भी आसानी से नहीं समझ सकते, फिर जो अंग्रेज़ी का एक अक्षर भी नहीं जानते उनके लिये तो वह पुस्तक आकाश-कुसुम की तरह है। फिर भी उस पुस्तक के कारण काश्मीर, बम्बई आदि स्थानों में उपद्रव हुए हैं, जिनकी कोई तुक समझ में नहीं आती। यह इस बात की निशानी है कि भारत का तथाकथित धर्मान्ध-वर्ग

इतना नासमझ है कि उसके सामने "तुम भले ही न मिले, परन्तु बोल तो मरेगा" वाली बात है।

जब से खुमैनी ने रश्दी की हत्या के लिये साठ लाख डालर के इनाम की घोषणा की है, तबसे इमाम बुखारी से लेकर भारत के अन्य मुस्लिम नेताओं में भी उस फरमान के समर्थन में विचित्र जोश उभरा है। भारत का यह धर्मग्रन्थ-वर्ग कितना जुनूनी है यह इस बात से पता लगता है कि चाहे मक्का की मस्जिद का प्रसंग हो, या भुट्टो की फांसी का प्रसंग हो, या मकबूल बट्ट को सजा देने की बात हो, उन सबकी जैसी प्रतिक्रिया यहां दिखाई जाती है, वैसी कट्टर इस्लामी देशों में भी नहीं दिखती। क्या यह भारत के सम्प्रदाय-निरपेक्ष संविधान की सौगात है? जिस बात से भारत का कोई दूर का भी वास्ता न हो, उसके लिये भारत में सरकार के विरोध में या जन-सामान्य के विरोध में खून की होली खेलने का क्या औचित्य है? पर कौन किसको समझाए? असल में सामी-मजहबों में कहीं मूल में ही भूल है, ऐसी जहां तर्क और औचित्य को स्थान नहीं है। भारत की परम्परा और इतिहास इससे भिन्न रहा है।

ऐसी बात नहीं है कि भारत में अनेक सम्प्रदाय नहीं रहे, और उनमें परस्पर मतभेद नहीं रहे। मतभेद होना तो मनुष्य-जाति के विचारशील और बुद्धियुक्त प्राणी होने का प्रमाण है। वैचारिक मतभेद तो तब तक रहेंगे ही जब तक मनुष्य जाति में विचार करने का सामर्थ्य रहेगा। इसलिए भारत ने विचार-भेद को स्वीकार करते हुए परस्पर वाद-विवाद और शास्त्रार्थों की परम्परा चलायी थी। खासतौर से धर्म-सम्बन्धी मामलों में भारत ने शुरुआत ही यहां से की थी—

**यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।**

जो तर्क-पूर्ण अनुसंधान करता है वही धर्म को जानता है, अन्य व्यक्ति नहीं। परन्तु सामी-मजहबों ने सर्वथा इसके विपरीत रुख अपनाया और उन्होंने मजहब के मामले में अक्ल के दखल को स्वीकार नहीं किया। इसी के कारण ज्ञान-विज्ञान-विरोधी तथा तर्क और बुद्धि-विरोधी मान्यताओं को प्रश्रय मिला; और जब किसी ने उन मूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध ज़बान खोली तो उसे काफ़िर कहकर 'बाजीबुल कत्ल' (कत्ल करने योग्य) बताया गया।

यूरोप और एशिया के अनेक देशों में धर्म के नाम पर भीषण रक्तपात का इतिहास इसी भावना से भरा है। इसमें ईसाइयत और इस्लाम दोनों शामिल हैं और उनमें अभी तक वह परम्परा चली आ रही है। मध्यकाल के इतिहास में बूम् को ज़िन्दा जलाया गया, हिपेशिया नामक महिला को कोड़े लगाये गये, और गैलिलियो जैसे गणितज्ञ को जेल में ठूँसा गया—वह इसी हठधर्मी का परिणाम था। तर्क-विरुद्ध मान्यताओं के कारण ही आज भी कई क्रिश्चियन शिक्षा-संस्थाओं में डार्विन के

विकासवाद का पठनपाठन सम्भव नहीं है। इसी कूढ़मगजी के कारण आजकल का शिक्षित ईसाई युवक यह देखकर हैरान होता है कि जब मैं गिरजे में जाता हूँ तो वहाँ पृथ्वी के चारों ओर सूरज घूमता है, परन्तु जब स्कूल में जाता हूँ तो सूरज के चारों ओर पृथ्वी घूमती है। बहुत कुछ ऐसी ही बात इस्लाम के साथ भी है। इसका अनुभव जितना अधिक आर्य समाज के विद्वानों को है उतना अन्य किसी को नहीं। यही कारण है कि आर्य समाज के इतिहास में बलिदानी वीरों के वक्षस्थल भले ही खून में रंगे मिलें, परन्तु उन्होंने अपने हाथ कभी खून से नहीं रंगे। विचार-भेद के कारण खून से हाथ रंगने की परम्परा भारतीय परम्परा नहीं है। यदि किसी बात पर मतैक्य नहीं है तो उस बात पर प्रेमपूर्वक वाद-विवाद किया जा सकता है, शास्त्रार्थ किया जा सकता है और उसके माध्यम से अपने विचारों में परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु इस्लाम और ईसायत का इतिहास इस परम्परा को नहीं मानता।

अभी पिछले दिनों 'लास्ट टैम्पटेशन ऑफ़ क्राइस्ट' नामक फ़िल्म पर जिस प्रकार यूरोप के ईसाइयों ने उपद्रव किये, वह उसी असहिष्णुता का द्योतक है जिसकी पराकाष्ठा खुमैनी के फरमान में दिखाई देती है। विचार-भेद के कारण कोई भी, किसी को भी, कहीं भी, मारने की छूट पा जाए और उस व्यक्ति को गौरवान्वित किया जाए तो यह दुनिया इन्सानों की नहीं, हैवानों की होगी। तब यहाँ जंगल का राज होगा और इस राज में केवल पशु ही निवास करेंगे, विचारशील मानव नहीं। रश्दी की हत्या तो जब होगी तब होगी। परन्तु खुमैनी के फरमान ने लोकतन्त्र की, उदारता की, सहिष्णुता की, बुद्धि और तर्क की हत्या कर ही दी है। यह मनुष्य-जाति के भविष्य के लिए कौनसी दिशा का संकेत है?

१६ मार्च १९८६



उनकी रचनाएं सुलझे हुए उदार और स्वस्थ चिन्तन से सराबोर हैं। जब भी उन्हें उलटते-पलटते हैं, उनके सात्रिध्य की अनुभूति होने लगती है, मानो वे स्वयं हो, मानो अपनी सुपरिचित शान्त, गम्भीर व भावनुकूल मुद्रा में विचारों का झरना बहा रहे हों। सच है, कोई भी लेखक अपने लिखे हुए शब्दों के माध्यम से अनन्त काल तक अपनी छाप छोड़ने की क्षमता रखता है। पं० क्षितीश जी ने ऐसा बहुत कुछ लिखा है, जो केवल आर्य-जगत् को ही नहीं, पूरे समाज को युगों तक उनकी याद दिलाता रहेगा।

-डॉ० वेदव्रत 'आलोक'

रीडर, संस्कृत, दिल्ली विश्वविद्यालय

## सुभाषित

“मातृभूमि! अपने अविवेकी बालक की अल्पसेवा पूर्णतः सत्य जानकर स्वीकार करो। हम अत्यधिक ऋणयुक्त हो गये हैं। अपने स्तनों का अमृत-तुल्य दूध पिलाकर तूने हमें धन्य कर दिया है। उस ऋण की प्रथम किश्त आज शरीर अर्पण करके चुकाता हूँ।

“मैं पुनः जन्म लेकर तेरे दास्य-विमुक्ति-यज्ञ में फिर से अपने देह की आहुति दूंगा। तेरा सारथी कृष्ण है तथा सेनानायक राम। तेरी तीस करोड़ सेना है। मेरे बिना तेरा काम न रुकेगा। दुष्टों का दमन करके तेरे वीर सैनिक हिमगिरि की उत्तुंग चोटियों पर विजय पताका फहरायेंगे। तथापि मां, अपने अबोध बालक की अल्पस्वरूप सेवा स्वीकार करो।”

(क्रान्तिकारियों के मुकुटमणि वीर सावरकर के मुकदमे का निर्णय जब सुनाया जाने वाला था, तो यह निश्चित जानकर कि मुझे फांसी या काले पानी की सजा होगी ही, उन्होंने मराठी में एक छोटी सी कविता लिखी थी, उसी का यह हिन्दी अनुवाद है, ‘क्रान्तिकारी चिट्ठियां’ नामक पुस्तक से)

## राजनीति का हिन्दूकरण

२८ मई को स्वातन्त्र्य वीर सावरकर की जन्म-तिथि के अवसर पर देश के उद्धार के लिए उनके बताये गये दो सूत्रों का स्मरण आ रहा है—

१. हिन्दू का सैनिकीकरण;
२. राजनीति का हिन्दूकरण।

इन दो सूत्रों पर विचार करें।

हिन्दू के सैनिकीकरण का क्या अर्थ है? क्या यह कि हरेक हिन्दू सेना में भरती हो जाये और शस्त्रास्त्र का संचालन सीखकर सदा शत्रु से लोहा लेने के लिए और राष्ट्र की रक्षा के लिए सन्नद्ध रहे? हिन्दू के सैनिकीकरण का एक पहलू यह भी है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु केवल यही उसका अर्थ नहीं है।

यदि सभी लोग सेना में भरती हो जाएं तो खेती कौन करेगा? वाणिज्य व्यवसाय कौन करेगा? कारखानों में काम कौन करेगा? चिकित्सा का काम कौन करेगा? वैज्ञानिक बनकर विज्ञान और प्रविधि में नित्य नई खोजें कौन करेगा? ज्ञानवान् बनकर विद्या-दान कौन करेगा? सामाजिक जीवन के इन सब पहलुओं की उपेक्षा

से सेना भी कब तक चल पायेगी? इसलिए हिन्दू के सैनिकीकरण को केवल सेना में भरती तक सीमित कर देने से राष्ट्र की समस्त व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी। हम सैनिकीकरण का अर्थ यह समझते हैं कि 'जिस प्रकार सैनिक एक अनुशासन में रहता है, और राष्ट्र-रक्षा का दृढ़ संकल्प धारण करता है तथा राष्ट्र पर संकट उपस्थित होने पर अपने प्राणों की बलि देने तक को तैयार रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक हिन्दू का भी यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक राष्ट्र-हित के कार्य के लिए अनुशासन-बद्ध, संगठन-बद्ध, ऐक्य-बद्ध और संकल्प-बद्ध होकर राष्ट्र के लिए सब कुछ बलिदान करने को तत्पर रहे। जब हम हरेक हिन्दू के लिए यह कर्तव्य निर्धारित करते हैं तो क्या अपने आप को गैर-हिन्दू कहने वालों से किसी प्रकार के कर्तव्य-पालन की आशा करना अनुचित है? स्थूल तर्क से तो हमारे उक्त कथन का यही तात्पर्य निकलता प्रतीत होगा, परन्तु हम हिन्दू शब्द को किसी धर्म-या समुदाय-विशेष का वाचक न मानकर राष्ट्र का वाचक मानते हैं। हम हिन्दू शब्द-विशेष को हिन्द के साथ जोड़ते हैं, इसलिए हिन्द के प्रत्येक निवासी को हिन्दू ही मानते हैं, फिर भले ही उसको अपने आपको गैर-हिन्दू कहने में आनन्द आता हो।

स्वयं हिन्दुओं ने ही हिन्दू शब्द के अर्थ का इतना अवमूल्यन कर दिया है कि हिन्दुओं के अनेक तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग भी (जिसमें हमारे अनेक आर्य-बन्धु भी शामिल हैं) अपने आपको हिन्दू कहने में संकोच करते हैं। राजनीतिज्ञों की दृष्टि में तो हिन्दू एक ऐसी गाय का नाम है जिसका दूध तो पीया जा सकता है, परन्तु उसकी रक्षा और उसके पालन-पोषण के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं। प्रगतिशील चिन्तन के पक्षधर तो हिन्दू का अर्थ महज एक दकियानूसी और साम्प्रदायिकता से ग्रस्त व्यक्ति समझते हैं। वे हिन्दू शब्द से ऐसे व्यक्ति का बोध कराना चाहते हैं जो अंधविश्वासों से घिरा हो, सामाजिक कुरीतियों से बंधा हो और अपनी जात-बिरादरी के चक्कर में इतना फंसा हो कि उसको व्यापक समाजहित और राष्ट्रहित की कोई चिन्ता न हो। हिन्दू शब्द के अर्थ के इस अवमूल्यन का ही परिणाम है कि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप एक नया नाश सुनाई देने लगा है "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं।" ये दोनों दिशाएं चिन्तन के दो ध्रुवों की ओर इंगित करती हैं।

'हिन्दू' शब्द की इस व्याख्या के पश्चात् अब राजनीति के हिन्दूकरण की बात भी बहुत कुछ सरल हो गई। यहां हम भी स्पष्ट कर दें कि पुरी के शंकराचार्य हिन्दुत्व के नाम पर जिन सामाजिक कुरीतियों का समर्थन करते हैं, हम उस हिन्दू-धर्म के समर्थक नहीं हैं। हमने उसको राष्ट्र के साथ जोड़ा है। हम हिन्दुत्व के उस रूप के समर्थक हैं जो आदिकाल से वैदिक विचारधारा के रूप में इस देश



में अनवरत रूप से प्रवाहित है। जिस तरह गंगोत्री से निकलने के पश्चात् गंगा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अन्य नदी नालों के साथ जिन नगरों और बस्तियों के पास से वह गुजरती है, उन स्थानों के औद्योगिक कारखानों के अवशिष्ट और उच्छिष्ट भी उसी गंगा में गिरते हैं। धीरे-धीरे गंगा का प्रदूषण इतना बढ़ जाता है कि उसका जल अपेय बन जाता है। इसीलिए गंगा को प्रदूषण से मुक्त करने का अभियान चलाना पड़ता है। परन्तु इससे गंगा के आदि-स्रोत की पवित्रता और निर्मलता न उपेक्षित की जा सकती है, न भुलाई जा सकती है। शब्द बदल गये, परिस्थितियाँ बदल गईं और इतिहास के काल-चक्र ने वैदिक धर्म की गंगा को प्रदूषित भी कर दिया, परन्तु वेद के रूप में जब तक उसका मूल उत्स विद्यमान है, तब तक हम आधुनिक हिन्दुत्व को भी उसी उत्स के प्रवाह के साथ जोड़ते हैं। वही इस राष्ट्र की मूल विचारधारा है। वही भारतीय संस्कृति है जिस पर हम गर्व करते हैं। हम ही क्यों, सारी दुनिया गीत गाती है।

शास्त्रीय चिन्तन के समय कौन सी बात प्रामाणिक है और कौन सी अप्रामाणिक, इसके लिए विद्वानों ने एक कसौटी निर्धारित की है। वह कसौटी यह है कि केवल वेद स्वतः-प्रमाण हैं और अन्य सब ग्रन्थ परत-प्रमाण हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी भी ग्रन्थ में वेद के विरुद्ध कोई वचन मिलता है तो उसे प्रमाण-कोटि में नहीं माना जा सकता। किसी भी सिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए उसका वेद के विरुद्ध न होना और वेद के अनुकूल होना ही एकमात्र शर्त है।

जो बात शास्त्रीय चिन्तन के साथ है वही बात सामाजिक और राष्ट्रीय चिन्तन के साथ भी है। जिस तरह किसी भी शास्त्र के वचन को प्रमाण की कोटि में आने के लिए अपनी वेदानुकूलता स्पष्ट करनी होती है, उसी तरह कोई भी समाज नीति और प्रशासनिक नीति जब तक 'हिन्दुत्व' के विरुद्ध न हो, अर्थात् राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध न हो, तभी तक स्वीकरणीय है, अन्यथा नहीं। यही कसौटी हम उन पर भी लागू करना चाहते हैं, जो अपने आपको गैर-हिन्दू कहने से बाज़ नहीं आते। हमें उन मुसलमानों और ईसाइयों की-जो अपने आपको गैर-हिन्दू कहने की जिद पर अड़े हैं- वे सब मांगें स्वीकार होनी चाहिए जो हिन्दुत्व के विरुद्ध न हों, अर्थात् बहुसंख्यक समस्त भारतीय समाज के हितों के अनुकूल हों।

जब हम राजनीति के हिन्दूकरण की बात करते हैं तब भी हमारा अभिप्राय यही होता है कि जो वैदिक विचारधारा भारतीय संस्कृति में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है, उसका आदर करने वाले जितने लोग हैं, वही इस राष्ट्र के अभिजन हैं, वही 'भारत-राष्ट्र' हैं। और यदि कोई भी राजनीतिक कदम इस बहुसंख्यक समाज के हितों के विरुद्ध हो, तो वह स्वीकार्य नहीं होना चाहिए।

इस विश्लेषण के पश्चात् यदि अपने आपको कोई गैर-हिन्दू कहना चाहे तो बेशक कहे। हालांकि हिन्दुत्व की विशाल और पावन धारा के द्वार उनके लिये सदा खुले हैं। वे भी इस राष्ट्रीय धारा में अवगाहन करके उसी तरह आनन्दलाभ कर सकते हैं जिस तरह अन्य लोग करते हैं। यह राष्ट्र सदा ऐसे लोगों का स्वागत करेगा।

परन्तु जिनके मजहब में राष्ट्र का कोई स्थान नहीं है, और जो अपने मजहब को राष्ट्र से भी बड़ा मानते हैं, राष्ट्र को उनके हितों की चिन्ता क्यों करनी चाहिये? अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार क्यों? क्या बहुसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करके? हिन्दुत्व अपनी संस्कृति से ही सहिष्णुतावादी है। वह उपासना-पद्धति और वैचारिक मतभेद की छूट देता है, परन्तु बहुमत की उपेक्षा करके अल्पमत को तरजीह देने वाले किसी विधि-विधान को स्वीकार करने को तैयार नहीं, क्योंकि वह राष्ट्र-विरोध की कोटि में आता है।

वीर सावरकर से बात शुरू की थी तो वीर सावरकर पर ही बात खत्म करें। फील्ड मार्शल जनरल मानिकशा ने पूना में वीर सावरकर की प्रतिमा का अनावरण करते हुए कहा था—“यदि आज सावरकर होते तो मुझसे पूछते कि मानिकशा! तुम लाहौर जाकर वापस क्यों आ गये?” फिर मानिकशा ने स्वयं ही इसका उत्तर दिया—“यदि आज सावरकर होते तो हम न लाहौर से वापस आते और न ही उनकी यह पूछने की नौबत आती।” यही है विजिगीषु मनोवृत्ति जो राजनीति के हिन्दूकरण के द्वारा हम प्रत्येक हिन्दू (राष्ट्रवासी) में लाना चाहते हैं।

२८ मई १९८६



“जब ऐसे व्यक्ति पत्रकारिता एवं लेखन के क्षेत्र में आते हैं तो निश्चय ही समाज को लाभ मिलता है। ऐसे स्पष्टवादी और चिन्तनशील व्यक्तित्व और कृतित्व पर चर्चा से देशभक्ति की चिंगारियों को शुद्ध-ताज़ा हवा मिलती है।”

-मोहनराज भण्डारी

सम्पादक दैनिक नव ज्योति

६२, महावीर कॉलोनी, पुष्कर रोड, अजमेर

## सुभाषित

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरनक्त्र-दंष्ट्रान्तरात्  
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।  
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्  
न तु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजन-चित्तमाराधयेत्॥

-मर्तहरि (नीतिशतक)

बल से मनुज नक्र-दाढ़ों से चाहे मणि को ले उद्धार।  
अति उत्ताल-ऊर्मि-मालाकुल सागर को भी कर ले पार॥  
और पुष्प-सम धारण कर ले सिर पर अपने क्रुद्ध भुजंग।  
किन्तु असंभव है कर देना मूर्ख हृदय के हठ को भंग॥

-गोपालदास गुप्त

## शाहबुद्दीन का नया पैतरा

“मुसलमान और भारतीय होना हमारे लिए गर्व की बात है। हम यहीं पैदा हुए और यहीं मरेंगे। यह हमारी मातृभूमि है। इसका प्यार हमारी निष्ठा का हिस्सा है। इसके लोगों की सेवा हमारा कर्तव्य है। इसका उत्थान हमारे लिए गौरव की बात है और इसका पतन निराशा की। हमें ध्यान रखना चाहिए कि अधिकारों का दावा बाद में, कर्तव्यों का पालन पहले होना चाहिए।”

लोगों ने देर तक तालियां बजाकर इसका समर्थन किया। ये वे शब्द हैं जो हाल में ही मुस्लिम सम्मेलन में बोलते हुए सैयद शाहबुद्दीन ने स्वर्गीय मौलाना आजाद के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहे थे। मुस्लिम सम्मेलन में उपस्थित सदस्य ही क्यों, प्रत्येक राष्ट्रभक्त भारतवासी हृदय से इन शब्दों का समर्थन करेगा।

परन्तु शाहबुद्दीन साहब ने क्या उक्त शब्दों में व्यक्त भावना का पालन करने के लिए ही यह सम्मेलन बुलाया था? शाहबुद्दीन साहब हमेशा डबल गेम खेलने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस सम्मेलन के द्वारा उन्होंने पुनः उसी डबल गेम का सहारा लिया है। एक तरफ वे धर्मनिरपेक्षता का समर्थन करते हैं और दूसरी तरफ अल्पसंख्यकों के लिए विशेषाधिकारों की मांग करने से भी बाज नहीं आते। उनके द्वारा धर्मनिरपेक्षता का समर्थन भी केवल इसलिए है क्योंकि वे समझते हैं कि इसके समाप्त होते ही सबसे बड़ी हानि अल्पसंख्यकों की ही होगी। अर्थात् उनकी दृष्टि में बहुसंख्यकों के हितों

की कोई कीमत नहीं है। क्या उनको यह बताने की ज़रूरत है कि इस समय जिस संकुचित दृष्टिकोण के कारण वे धर्मनिरपेक्षता का समर्थन कर रहे हैं, वह धर्मनिरपेक्षता हिन्दू-संस्कृति की ही देन है, इस्लामी संस्कृति की नहीं। भारत में धर्मनिरपेक्षता की आड़ में ही वे अपने विशेषाधिकारों की मांग का आन्दोलन करते हैं, अन्यथा संसार के किसी भी इस्लामी देश में, हम फिर दोहराते हैं, किसी भी इस्लामी देश में धर्मनिरपेक्षता की बात कह कर और उसे मनवा कर तो देखें!

नाम धर्मनिरपेक्षता का और आचरण सदा सांप्रदायिकता का, तभी तो शाहबुद्दीन साहब 'मुस्लिम इण्डिया' नामक अखबार निकालते हैं। उनकी दृष्टि में 'हिन्दू इण्डिया' कहना तो सांप्रदायिक है, और 'मुस्लिम इण्डिया' कहना असांप्रदायिक एवं राष्ट्रीय है। यदि हिन्दू राम-जन्मभूमि को हिन्दुओं को सौंपने की बात करते हैं तो वे साम्प्रदायिक हैं, किन्तु यदि मुसलमान उसे मुसलमानों को सौंपने की बात करते हैं तो वे असांप्रदायिक हैं। यह कैसी विचित्र विचारधारा है कि हिन्दुत्व से संबद्ध किसी भी चीज के लिये आग्रह करना तो सांप्रदायिकता की कोटि में गिना जाता है और मुसलमानों से संबद्ध किसी भी चीज की वकालत करना, फिर चाहे वह कितनी ही राष्ट्र-विरोधी क्यों न हो, राष्ट्रीयता का द्योतक समझा जाता है।

असल में कांग्रेस की नीति ने ही इस दोषपूर्ण विचारधारा को जन्म दिया है और वहीं से तुष्टीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है। कांग्रेस का यह रुख आज का नहीं, यह शायद उसकी घुट्टी में पड़ा हुआ है। आज भी खिलाफत आन्दोलन को अनुचित ठहराने की बात कांग्रेसी नेताओं के मुंह से नहीं निकलती। जब पं० मोतीलाल नेहरू ने समस्त भारत को नेहरू कमीशन की रिपोर्ट के माध्यम से मुस्लिम और गैर-मुस्लिम हिस्सों में बांटा था, तब भी यही मनोवृत्ति काम कर रही थी। इस मनोवृत्ति में सब अल्पसंख्यकों का स्थान है, यदि स्थान नहीं है तो केवल हिन्दुओं का जो कि इस देश का सबसे बड़ा बहुमत हैं। अपने ही देश में हिन्दू अस्तित्व-शून्य हैं। क्या संसार के किसी अन्य देश में ऐसी अनहोनी संभव है?

इस सम्मेलन में देश में उमरती हुई सांप्रदायिकता और कट्टरवादिता को रोकने के लिए एक नई तीसरी शक्ति खड़ी करने की बात कही गई, परन्तु वह तीसरी शक्ति कैसी होगी इसका आभास "मुस्लिम सम्मेलन" के नाम और काम से ही स्पष्ट है। इस तीसरी शक्ति का असली उद्देश्य मुस्लिम-संप्रदाय के अधिकारों के लिए लड़ना तो होगा ही, साथ ही देश में समान नागरिक संहिता बनाने का विरोध करके मुस्लिम शरीयत में कोई दखलअंदाजी सहन न करना भी शामिल होगा। और अब ताज़ा मांग में अपने अधिकार के रूप में बाबरी मस्जिद को मुसलमानों के हवाले करने की मांग भी शामिल हो गई है। तो यह

है शाहबुद्दीन साहब की 'धर्मनिरपेक्षता', जिसके आधार पर सांप्रदायिकता से, अर्थात् हिन्दुओं के पुनरुत्थानवाद से लड़ा जायेगा।

इस तीसरी होने वाली शक्ति को और सबल बनाने के लिए शोषित वर्गों को साथ मिलाने की योजना बनाई गई है। शोषित वर्गों में खास तौर से हरिजन तथा अन्य हिन्दू अनुसूचित जातियां ही शामिल की गई हैं। इन शोषित वर्गों में आदिवासियों या जनजातियों को कभी भी शामिल नहीं किया जाता, क्योंकि असली उद्देश्य शोषण को हटाना नहीं, केवल वोट बटोरना है, जिससे किसी भी तरह सत्ता पर कब्जा हो सके। जनजातीय इलाकों में उनका यह समीकरण ठीक नहीं बैठता इसलिए जनजातियों को आंखों से ओझल कर दिया जाता है। हरिजनों और मुसलमानों के संयुक्त मार्च की बात पहले भी की जाती रही है। कभी इमाम बुखारी ने भी यही नारा लगाया था और अब बहुजन समाज के नाम से कांशीराम भी यही नारा लगा रहे हैं। इस प्रकार के नारों में असली उद्देश्य कुछ और होता है, और उसका बाहरी रूप कुछ और।

शायद शाहबुद्दीन साहब उस समय के इन्तज़ार में हैं जब आम चुनावों में लोकसभा में जनता दल या कांग्रेस में से कोई भी बहुमत प्राप्त न कर सके। तब शाहबुद्दीन साहब सत्ता में हिस्सा बांटने के लिए अपनी शर्तें पेश करेंगे। परन्तु मुसलमानों को किसी एक मंच या एक राजनैतिक संस्था के रूप में अपनी आवाज़ उठाने का मौका मिले, तभी उन शर्तों के माने जाने की स्थिति पैदा हो सकती है। हरिजन और मुसलमान मिलकर एक मोर्चा बना सकेंगे, इसकी तो कोई संभावना प्रतीत नहीं होती। परन्तु नई राजनैतिक पार्टी बनाकर शाहबुद्दीन साहब अपने इस नये पैतरे से पुनः कायदे-आज़म मोहम्मद अली जिन्ना बनने का दुःस्वप्न अवश्य देखते हैं। इस दृष्टि से उनका यह नया पैतरा कम खतरनाक नहीं है।

२३ जुलाई १९८६



‘किसी युग में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रकट होने पर भारत में भी साम्प्रदायिक वैमनस्य अवश्य रहा होगा। परन्तु धिरकाल के अनुभव के पश्चात् भारत के निवासियों ने ‘जीओ और जीने दो’ के सिद्धान्त को अपने जीवन में रचनात्मक रूप दिया है। यही कारण है कि भारत के बाहर से आने वाले मज़हबों के अनुयायियों को यहां सदा समानता का अधिकार दिया गया, फिर चाहे वे पारसी हों, यहूदी हों, या ईसाई हों, या मुसलमान हों। भारत की इस सहिष्णुता की तुलना संसार के किसी अन्य देश से नहीं की जा सकती।’

—‘चयनिका’, पृष्ठ १७२

## सुभाषित

मैंने अभावस्या की अन्तहीन, सर्पाकार रात्रि में टिमटिमाते तारों से पूछा, "रात भर जागते क्यों रहते हो?"

उत्तर मिला— "धरा की कुरूपता देखी नहीं जाती।"

मैंने खिलते फूलों से पूछा— "अपने सौरभ को यों बिखराते क्यों हो?"

बोले "दुर्गन्ध सही नहीं जाती।"

नयनों में पानी की बूंदें लिये दूर्वादल से पूछा— "यों अश्रु बहाती क्यों हो?"

क्षीण वाणी में उत्तर दिया— "दिछोह देखा नहीं जाता।"

मिटती श्वासों के तारों से पूछा— "इस प्रकार रुक-रुक कर आती क्यों हो?"

बोली— "जिन्दगी मुड़-मुड़ कर नहीं आती।"

और खीजकर अन्त में जैसे कुछ न समझते हुए अशान्त मन से पूछा, "हर बार झुठलाते क्यों हो?"

संक्षिप्त सा उत्तर मिला, "क्योंकि आशा बन-बन रह जाती।"

'स्वाति बूंद' से

## उर्दू के नाम पर देश को मत बांटिए!

ज्यों—ज्यों चुनाव निकट आते जा रहे हैं त्यों—त्यों सरकार का सारा धिन्तन चुनाव—केन्द्रित होता रहा है। यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई है कि सरकार को उचित अनुचित का भी विवेक नहीं रहा। भाषा की एकता देश की एकता का बहुत बड़ा आधार है। पाकिस्तान ने पूर्वी बंगाल पर जबरदस्ती उर्दू थोपनी चाही, तो उसका परिणाम पाकिस्तान के विभाजन और बांग्ला देश के उदय में हुआ। इस उदाहरण से हम यह नहीं कहना चाहते कि उर्दू में स्वयं ही कोई विघटन के बीज मौजूद हैं, पर यह अवश्य कहना चाहते हैं कि मुस्लिम लीग ने और अन्य साम्प्रदायिक तत्त्वों ने उसे सदा विघटन के औजार के रूप में ही इस्तेमाल किया है। क्या हम पूछ सकते हैं कि सिन्ध और बलोचिस्तान उर्दू के विरोधी और सिन्धी तथा पश्तो के पक्षपाती क्यों हैं? यदि पाकिस्तान का भविष्य में और विभाजन हुआ तो उसका कारण भी उर्दू को थोपना ही होगा। पिछले ४२ वर्षों में भाषाई विवाद से देश थोड़ा बहुत उबरा था, पर आप पुनः देश को बांटने के रास्ते पर चला रहे हैं।

बिहार के बाद उत्तर प्रदेश में उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने का फैसला उर्दू के हित के लिए नहीं, केवल चुनाव में आंधी के आम बटोरने के लिए है।

इस सम्बन्ध में सहयोगी 'जनसत्ता' ने १६ सितम्बर के अंक में 'भाषा की साम्प्रदायिकता' शीर्षक से एक उपयोगी विचारोत्तेजक अग्रलेख लिखा है, जो नीचे दिया जा रहा है—

बिहार के बाद अब उत्तर प्रदेश ने भी उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा देने का फैसला कर लिया है। इस फैसले के पीछे न तो कोई उर्दू-प्रेम है, और न इसका उद्देश्य उस इतिहास और संस्कृति की रक्षा करना है जो उर्दू में ही सुरक्षित है। उसका उद्देश्य तो आम चुनाव से ठीक पहले मुस्लिम मतदाताओं के सामने कांग्रेस की आकर्षक तस्वीर पेश करना है। कांग्रेसी नेता सोचते हैं कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है और उसे दूसरी राजभाषा बना देने का फैसला मुस्लिम नेताओं को खुश करके कांग्रेस की तरफ ले आएगा। हमें नहीं मालूम कि यह हिसाब-किताब किसी ठोस आधार पर लगाया गया है या नहीं। लेकिन उसके पीछे के दृष्टिकोण के खतरों को जरूर पहचान लेना चाहिए। जब हमें आज़ादी मिली थी तो उर्दू सिर्फ मुसलमानों की भाषा नहीं थी, हालांकि वह चलन में मुस्लिम-दरबार के कारण ही आई थी। अंग्रेजों को हिन्दू और मुसलमानों को बांटने के लिए यह सुविधाजनक लगा कि उर्दू को कोर्ट-कचहरी की भाषा बनाए रखा जाए, और उसे उसी के साथ व्यापक चलन में आई हिन्दी से अलग करके फारसी मिजाज के करीब रखा जाय। यह चाल एक हद तक सफल रही, और मुस्लिम लीग ने उर्दू को मुस्लिम पहचान से जोड़ना शुरू कर दिया। जबकि सचाई यह थी कि हिन्दी इलाके के मुट्ठी भर शहरी मुसलमानों के अलावा कहीं उर्दू मुसलमानों की भाषा नहीं थी। वे जहां रहते थे वहां की भाषा बोलते थे और वहां के समाज में रचे-पड़े थे। १९४७ के बाद मुस्लिम लीग की इस भेद-नीति को कांग्रेसी नेताओं ने अपना लिया, जबकि आज़ादी की लड़ाई में कांग्रेस के कई नेता और हिन्दी-उर्दू के बहुत से साहित्यकार भाषा की साम्प्रदायिकता के खिलाफ मोर्चा लेते रहे थे। पिछले चालीस साल में उर्दू मुसलमानों को अपने साथ रहने वाले दूसरे भारतीय समुदायों से काटने के काम में लाई जाती रही है; और यही वजह है कि आज केरल तक में उर्दू फैलाने की कोशिश की जा रही है, जबकि वहां के मुसलमान मलयाली भाषा और संस्कृति से गहरे जुड़े रहे हैं। सम्प्रदायों को बांटने और राजनैतिक गोलबंदी के जरिए वोट बटोरने की इस कांग्रेसी नीति को बहुत से मुसलमान नेता भी पहचानते होंगे, पर इस कुटिल राजनीति के खिलाफ आवाज नहीं उठा पाते।

भाषा की इस साम्प्रदायिकता को शुरू करने के अलावा और कोई उपलब्धि इस फैसले की हो नहीं सकती। पहले तो यही भरोसा नहीं है कि चुनाव के बाद बिहार और उत्तर प्रदेश की सरकारों को इस फैसले की याद रहेगी भी

या नहीं। रही भी और उन्होंने मुस्लिम-बहुल जिलों में उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा देने की कोशिश की भी तो इससे उर्दू का चलन नहीं बढ़ जाएगा। सरकारी नौकरियों में उर्दू जानने वाले इक्का-दुक्का लोगों को भले खपा लिया जाए, आम मुसलमानों को उर्दू ज्ञान-विज्ञान और उद्योग-धंधों में इस्तेमाल करने लायक दिखाई नहीं देने लगेगी। आज नौजवान मुस्लिम पीढ़ी उर्दू से बहुत दूर जा चुकी है। निम्न-वर्गीय उन मुस्लिम बच्चों को छोड़ दें जो नाम के लिए मदरसे में जाते हैं और उर्दू का कायदा सीख आते हैं, तो शिक्षा-दीक्षा में उर्दू का कोई खास इस्तेमाल दिखाई नहीं देगा। उसकी वजह सिर्फ यही नहीं है कि अब तक उसे राज्यों में दूसरी सरकारी भाषा का दर्जा नहीं मिला था। उसकी वजह यह है कि कोर्ट-कचहरियों की भाषा बदल जाने और दरबारी समाज के बिला जाने के बाद उर्दू की कोई सार्थकता नहीं रह गई। आज भी वह हिन्दी के मुहावरों में और हिन्दी बोलचाल में जीवित है, और अगर मुसलमानों को बाकी समाज से जबर्दस्ती अलग न किया जाए, तो हिन्दी-भाषी इलाकों में हिन्दी के भीतर उर्दू की स्थिति और मजबूत हो सकती है। मगर उर्दू को हिन्दी के बाहर जबर्दस्ती सांप्रदायिक भाषा के रूप में खड़ा करने की कोशिश की गई, तो उससे उर्दू का भी नुकसान होगा और मुसलमानों का भी, क्योंकि दोनों अलगाव के रास्ते पर ही भटक रहे होंगे।

उर्दू अपने भीतर जिस इतिहास और संस्कृति को सुरक्षित रखे हुए है, उसकी न उपेक्षा करने की जरूरत है न अवज्ञा। उसके लिए ऐसी संस्थाएं होनी चाहिए जो यह काम बिना किसी सांप्रदायिक भावना के कुशलता और योग्यता से कर सकें। इस तरह की संस्थाएं पहले भी देश में बहुत सारी हैं, और अगर उन्हें कुछ साधन-सुविधा और उद्देश्य मिल सकें तो वे बेहतर काम करके दिखा सकती हैं। उनकी जड़ता का कारण भी अक्सर यही होता है कि वे सांप्रदायिक राजनीति का मोहरा हो जाती हैं और उनमें चाटुकार लोग भर जाते हैं। उर्दू ही क्या ब्रज, अवधी, मैथिली, बुंदेलखंडी, बांगड़ा, मालवी या हिन्दी इलाके की ऐसी ही दूसरी सभी भाषाओं को अधिक गंभीरता से लिये जाने की जरूरत है और उनके जरिए जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत हमें मिली है, उसका टीक से आकलन होना चाहिए। मुसलमानों को उर्दू में अपनी उतनी छाप नहीं दिखाई देगी जितनी इन सब भाषाओं में, क्योंकि मुस्लिम-समाज ने और उसके गुणी और प्रतिभाशाली लोगों ने अपनी इन्हीं सब मातृ-भाषाओं के जरिए सदियों तक अपने आपको अभिव्यक्त किया है। सिर्फ यह फैसला करना पड़ेगा कि भारतीय समाज में मुसलमानों की जो अपनी जगह रही है, और यहां की विविध संस्कृति से उनका जो सहज जुड़ाव रहा है, उसे हम बनाए रखना चाहते हैं, या उन्हें इस स्वाभाविक प्रवाह से



अलग करके सांप्रदायिक राजनीति का मोहरा बनने के लिए झटका ले जाना चाहते हैं।

कांग्रेस के भीतर भी अब तक ऐसे लोग रहे हैं, जो भाषा के इस सांप्रदायिक खेल के खिलाफ चेतावनी देते रहे हैं। दुर्भाग्य से या तो ऐसे सब लोग दिवंगत हो गए हैं, या हाथ पर हाथ रख कर बैठ गए हैं, यह सोचकर कि राजनीति में अब उचित-अनुचित का विवेक ही नहीं रहा। हर फैसले का आधार यह हिसाब-किताब हो गया है कि उससे शासक-पार्टी को कोई चुनावी फायदा मिलने वाला है या नहीं। चुनावी फायदा साधन और साध्य दोनों हो गया है, इसलिए उसके खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाई जा सकती। ऐसी हालत में भला कौन ओखली में अपना सिर देते हुए यह कहेगा कि उर्दू को दूसरी राजभाषा बना देने से उर्दू-समर्थकों का तो कुछ फायदा होगा, नहीं भाषा की सांप्रदायिकता ही मजबूत होगी। नतीजा यह है कि आंख मूंदकर चुनावी फैसले हो रहे हैं। इन फैसलों की सबसे बड़ी बुराई यह है कि उन पर अमल तो होता नहीं है, इसलिए उनकी निरर्थकता का पता नहीं लगता। पर दिमाग में यह बात घर कर जाती है कि अगर उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने के फैसले पर अमल हो गया होता तो मुसलमानों का बड़ा भला हो जाता। इस तरह का झूठा विश्वास ही उस उग्र असंतोष की तरफ ले जाता है जो सांप्रदायिकता की जड़ों को सींचता है। हमारे यहां नादान उदारवादियों का एक ऐसा वर्ग भी घनप गया है जो अल्पसंख्यक वर्गों को खुश करने के लिए अलगाव वाले तौर-तरीकों की हिमायत करता रहता है। बिना यह सोचे-समझे कि इससे उनका हित नहीं अहित ही हो रहा है। किसी भी समाज की सुख-समृद्धि पारस्परिकता में ही हो सकती है, उसके विभिन्न घटकों के बीच अलगाव बढ़ा कर नहीं। उर्दू का कायदा तक न जानने वाले उर्दू के हिमायतियों से उन सबको सावधान रहना चाहिए जो सचमुच उर्दू के शुभचिंतक हैं।

२४ सितम्बर १९८६



“देश-प्रेम, जनसेवा, आर्थिक-सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष और स्वामी विवेकानन्द व महात्मा गांधी के दरिद्र नारायण की मुक्ति की उत्कट अभिलाषा — इन राष्ट्रीय पत्रकारिता के उत्कृष्ट मूल्यों के प्रति पण्डित जी की प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी समर्पित थी।”

-डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय

सम्पादक, दैनिक हिन्दुस्तान

बी-५५, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

## सुभाषित

केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होगे, जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जाएगी। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू कहला सकोगे, जब तुम किसी प्रान्त के, कोई भी भाषा बोलने वाले प्रत्येक हिन्दू संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा समझने लगोगे। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू माने जाओगे, जब किसी भी हिन्दू कहलाने वाले का दुःख तुम्हारे हृदय में तीर की तरह आकर चुभेगा, मानो तुम्हारा अपना लड़का ही विपत्ति में पड़ गया हो।

जब मनुष्य अपने आप से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट पड़ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है, तब समझ लो कि इसका विनाश निकट है। तुम लोग आर्य ऋषियों के वंशधर हो, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। इसलिए भाइयो! आत्म-विश्वासी बनो।

कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार! भयंकर अन्धकार!!' कह कर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जाएगा? नहीं, रोशनी जला दो, फिर देखो कि अंधेरा अपने आप ही दूर हो जाता है या नहीं।

-स्वामी विवेकानन्द

## हिन्दुत्व के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ

“अगर भारत में धर्म के आधार पर वोट मांगे गए तो जम्मू-कश्मीर में इस्लामी सरकार बनेगी, केरल में ईसाई सरकार बनेगी, पंजाब में खालिस्तानी सरकार बनेगी, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश राज्यों व केन्द्र में हिन्दू सरकार बनेगी।”

यह कथन प्रचलित चिन्तनधारा का प्रतीक है और आजकल जब कोई व्यक्ति इस प्रकार की बात कहता है तो आपाततः समस्त समझदार लोगों को वह अपील करती है। जब इस प्रकार की बात कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, भारत का प्रधानमंत्री जैसा उच्च व्यक्तित्व कहे, तो उसका वजन और बढ़ जाता है। प्रधानमंत्री अन्यत्र भी इसी प्रकार की बात दुहराते रहे हैं। हाल में ही, गुवहाटी में 'असम ट्रिब्यून' नामक समाचार पत्र की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर भी इसी प्रकार की बात कही है। उन्होंने संचार-साधनों से जुड़े सभी लोगों से, और उनके माध्यम से समस्त देशवासियों से अपील की है कि धर्म-निरपेक्ष देश में धर्म के आधार पर लगाए जाने वाले नारों के विरोध में और देश का विघटन करने वाली साम्प्रदायिक पार्टियों के विरोध में आवाज क्यों नहीं उठाते? यह सही है कि साम्प्रदायिकता के

विरोध में वातावरण तैयार करना समाचार-पत्रों का और अन्य संचार साधनों का मुख्य दायित्व है। पर प्रधानमंत्री का मुख्य आक्रोश हिन्दुत्ववादी संस्थाओं के प्रति रहता है।

साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन कौन देता है? लोकतंत्र में क्योंकि बहुमत प्राप्त करने वाला दल ही विजयी होकर सरकार बनाता है, इसलिए अधिक से अधिक जनता को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाता है। जब चुनाव सन्निकट आ जाते हैं, तब इस प्रकार के प्रयत्न और बढ़ जाते हैं और आम जनता को अपने पक्ष में करने का अधिकतम प्रयत्न किया जाता है। यह स्वाभाविक है, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। पर प्रदेश-विशेष में जब वर्ग-विशेष को प्रभावित करने के लिए कोई राजनीतिक दल स्वयं साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दे तो उसे कौन उचित ठहराएगा? इस विषय में हमारी शिकायत सबसे अधिक कांग्रेस से ही है। यदि अन्य दल साम्प्रदायिकता फैलाएं और धर्माधारित राज्य की बात करें तो वह पाप; पर यदि कांग्रेस वैसा करे तो वह पुण्य—यह तर्क हमारे गले नहीं उतरता।

हमने लेख के शुरु में ही अवतरण चिन्हों के साथ जो उद्धरण दिया है, आप को आश्चर्य होगा कि वह उद्धरण उस याचिका से लिया गया है जो मिजो नेशनल फ्रंट के नेता ने सत्तासीन कांग्रेसी मुख्यमंत्री के विरुद्ध अदालत में दायर की है। इसी वर्ष जनवरी में हुए मिजोरम विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस ने ईसाइयत के नाम पर ईसाई सरकार बनाने के उद्देश्य से जनता का समर्थन मांगा था। चुनाव में कांग्रेस के घोषणापत्र में कहा गया था कि यदि कांग्रेस सत्ता में आई तो वह ईसाई सरकार बनाएगी और ईसाई विचारधारा पर आधारित नई पाठ्य-पुस्तक तैयार करेगी। ईसाइयों को उनकी पवित्र नगरी वेटिकन की मुफ्त यात्रा कराई जाएगी। कांग्रेसी नेता ने, जो इस समय मिजोरम के मुख्यमंत्री हैं, अपने भाषणों में यह भी कहा था कि मिजोरम में ईसाइयों के लिए धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद का कोई अर्थ नहीं है। इनका ईसाइयत के साथ कोई तालमेल नहीं बैठता। जो लोग प्रदेश-कांग्रेस के ईसाई प्रत्याशियों को वोट नहीं देंगे उन्हें प्रभु यीशुमसीह के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। कांग्रेस की ओर से वितरित स्टिकर में मिजो भाषा में कहा गया था—‘यदि मिजो नेशनल फ्रंट चुनाव में जीत गया तो वह चर्च का विरोध करेगा और मानवरक्त बहाएगा।’ वर्तमान कांग्रेसी मुख्यमंत्री ने आम जनसभा में यह भी कहा था ‘हमारी पार्टी का एकमात्र देवदूत ईसामसीह है, इसलिए हम मिजो तरीके से ईसामसीह की शिक्षाओं पर ही चलेंगे।’

याचिका-कर्ता ने अपनी याचिका में कहा है—‘मैं स्वयं पक्का ईसाई हूँ और ईसामसीह के प्रति मेरे हृदय में असीम श्रद्धा है। पर उनके नाम पर वोट मांगना, मतदाताओं को ‘दैवीय कोप’ का भय दिखाना एक भ्रष्ट आचरण है, और यह

भयानक राजनीति है। इससे भारतीय संविधान में उल्लिखित पवित्र सिद्धान्तों का हनन होता है। ऐसी खतरनाक विचारधारा देश की एकता व अखण्डता के लिए घातक है। इससे देश के विभिन्न वर्गों में द्वेष और घृणा पैदा होती है। “मिज़ो फ्रंट के अन्य १४ व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार की याचिकाएं दाखिल की हैं और उन्हें विश्वास है कि उनकी याचिकाएं स्वीकृत हो गईं तो सत्ताधारी कांग्रेस को सीटें छोड़नी पड़ेंगी।

असम में क्योंकि गैर-कांग्रेसी सरकार है, इसलिए उसे परेशान करने के लिए जिस प्रकार बोडोलैंड के आन्दोलन को ईसाइयत के आधार पर हवा दी जा रही है, वह भी सुविदित है। जन-साधारण की यही धारणा है कि राज्य सरकार, केन्द्रीय सरकार और बोडो प्रतिनिधियों के मध्य कितनी ही बातचीत हो जाए, बोडो प्रतिनिधि हिंसात्मक आन्दोलन छोड़ने का कितना ही वायदा करें, पर हिंसा का यह ताण्डव तब तक रुकने वाला नहीं है, जब तक असम में कांग्रेसी सरकार स्थापित नहीं हो जाती। इसका संकेत क्या है—उसकी व्याख्या हम नहीं करेंगे।

फिर अभी बिहार और उत्तर प्रदेश में जिस प्रकार उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया गया है, उसके पीछे क्या मनोवृत्ति है—यह क्या किसी से छिपा है? पं० गोविन्द वल्लभ पंत, डा० सम्पूर्णानन्द, पं० कमलापति त्रिपाठी, श्री चन्द्रभानु गुप्त और चौ० चरणसिंह जैसे उत्तर प्रदेश के दिग्गज राजनीतिज्ञों ने जो काम नहीं होने दिया, श्री नारायणदत्त तिवारी ने किस इशारे पर यह काम आनन-फानन में कर दिया, यह कह कर बताने की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी हम प्रधानमंत्री को दोष नहीं देते। वे केवल देश के प्रधानमंत्री ही नहीं, कांग्रेस के प्रधान भी हैं। इसलिए अपने राजनीतिक दल को चुनाव में विजयी बनाना उनकी जिम्मेवारी है। पर उस जिम्मेवारी को पूरा करने के लिए वे देश में एक भ्रान्ति का प्रचार करें, यह उचित प्रतीत नहीं होता।

हम बारम्बार कह चुके हैं कि धर्म और सम्प्रदाय या मत एक ही चीज़ नहीं हैं। धर्म शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह मानव कल्याण के शाश्वत नियमों पर आधारित होता है, किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं। इसलिए उन शाश्वत नियमों से किसी का विरोध नहीं होता। जितने सेमेटिक मत हैं, वे अपने मत-प्रवर्तकों के व्यक्तित्व पर टिके हैं, उन व्यक्तित्वों के न रहने पर वे धराशायी हो जाएंगे। इसीलिए वे तर्क को नहीं, बुद्धि को नहीं, ज्ञान को नहीं, नैतिकता को नहीं, केवल ईमान को महत्त्व देते हैं। वे अन्य मतों के प्रति नितान्त असहिष्णु हैं। सच तो यह है कि उनकी मान्यताओं के अनुसार राष्ट्रवाद का भी कोई अर्थ नहीं है। वे अपने पैगम्बर को राष्ट्र से भी बड़ा मानते हैं। इसलिए जब राष्ट्रीय हित और उनके साम्प्रदायिक हित में तुलना होगी, तो वे सदा अपने

साम्प्रदायिक हितों को ही वरीयता देंगे, राष्ट्रीय हितों को नहीं। इसलिए जिस संविधान—वर्णित सेक्युलरिज्म, (कृपया इसे धर्मनिरपेक्षता मत कहिए, पन्थनिरपेक्षता ही कहिए) पर आप गर्व करते हैं, वह ईसाइयत या इस्लाम को कभी रास नहीं आती। उसके उपासक तो केवल हिन्दू ही हैं।

हिन्दुओं ने आज तक विचार—भेद के कारण किसी अन्य मतावलम्बी को कभी नहीं सताया। 'इनक्विज़िशन' के उदाहरण ईसाइयों के इतिहास में ही मिलेंगे, हिन्दुओं के इतिहास में नहीं। हम चुनौती देकर कहते हैं कि हिन्दुओं के इतिहास में कोई एक भी उदाहरण इस प्रकार का बतादे, जब उन्होंने मत—भिन्नता के कारण किसी को ज़िन्दा जलाया हो। उल्टे यहूदियों, पारसियों, मुसलमानों और ईसाइयों को, सबको अपने देश में समानता के स्तर पर बसाने में सहायता देने का ही काम किया है। इष्टदेवों और कर्म—काण्डों के आधार पर हिन्दुओं में भी सम्प्रदायों की बहुलता है, पर जिस तरह पाकिस्तान ने अहमदियों को केवल इसलिए कि वे हज़रत मुहम्मद साहिब को आखिरी पैगम्बर नहीं मानते, मुसलमान मानने से इन्कार कर दिया; वैसा हिन्दुओं ने कभी नहीं किया। यहां सभी सम्प्रदायों का स्वागत है। क्योंकि वे जानते हैं कि रीति—रिवाज़, प्रतीक पूजा, दाढ़ी—चोटी, जनेऊ—तिलक आदि बाह्यचिह्न तथा कर्मकाण्ड शाश्वत धर्म नहीं, केवल व्यक्तियों की रुचि—अरुचि पर निर्भर सामान्य धर्म—मात्र है, इसलिए वे परिवर्तनशील हैं। शाश्वत नहीं। इसलिए इन पर वे कभी नहीं झगड़ते।

जिस प्रकार परस्पर सह—अस्तित्व, सहिष्णुता, सर्व—मत—संभाव, पन्थ—निरपेक्षता और मानवमात्र की समानता हिन्दू विचारधारा की ही देन है, वैसे ही लोकतंत्र भी। अन्यथा भारत के चारों ओर के देशों पर नज़र दौड़ाइए, कहीं लोकतंत्र नहीं मिलेगा। जिस दिन इस देश में हिन्दुओं की बहुलता नहीं रहेगी, उस दिन इस देश में न लोकतंत्र रहेगा, न पन्थनिरपेक्षता और न मानवीय गरिमा में विश्वास। इसलिए हिन्दुत्व के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण जिस प्रकार समाचार—पत्रों का कर्त्तव्य है, उसी तरह राजनेताओं का भी।

२२ अक्टूबर १९८६



'हिन्दू' ऐसे सम्प्रदायों, वर्गों, जातियों का सम्बद्ध रूप है, जिस की निष्ठा इस भारत देश के साथ जुड़ी है। इसी भूखण्ड से जुड़कर 'हिन्दू' ने एक सामूहिक चेतना का विकास किया। इसलिए 'हिन्दू' एक धार्मिक नहीं भौगोलिक परिभाषा है।

(-'तूफान के दौर से पंजाब', द्वितीय सं०, पृष्ठ १७०)

## सुभाषित

कच्चित् दण्डयेषु यमवत् पूज्येषु च विशांपते!

परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा मानाद्वापि विशांपते!

अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन॥

— नारदनीति

नारद मुनि का युधिष्ठिर को उपदेश—“हे राजन्! क्या तुम दण्डयोग्य अपराधियों के प्रति यम के समान कठोर हो? क्या तुम प्रिय और अप्रियजनों की परीक्षा करके उनके साथ उचित व्यवहार करते हो? क्या तुम वादी और प्रतिवादियों को किसी प्रकार के लोभ, मोह अथवा मान से तो नहीं देखते?”

## धर्म-निरपेक्षता की यह कैसी आड़?

जब से अयोध्या में राम-मन्दिर का शिलान्यास निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है, तब से कई इस्लामी देशों को पानी पचना मुश्किल हो गया है। सबसे पहले पाकिस्तान की प्रधान मंत्री बेनजीर भुट्टो ने उसके विरोध में वक्तव्य दिया और उसके बाद पाकिस्तान की शह पर ही अन्य मुस्लिम देशों ने भी भारत के आन्तरिक मामलों में दखल देने की अनधिकार चेष्टा प्रारम्भ कर दी। केवल बयानबाजी तक ही बात सीमित रहती तब भी एक बात थी, परन्तु उसके बाद पाकिस्तान और बांग्लादेश में जिस तरह मन्दिरों को तोड़ने और हिन्दुओं की दुकानों तथा घरों को जलाने की परम्परा प्रारम्भ हुई है, वह चिन्ता की बात है।

यह सब मुस्लिम देश जिस बात की बारबार आड़ लेते हैं, वह भारत के संविधान में वर्णित धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत है। उनका आरोप यही है कि भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष देश में अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। परन्तु अल्पसंख्यकों के कौन से हितों की उपेक्षा हुई है, इसका बखान कोई नहीं करता। केवल एक जुनून है जो अनर्गल अफवाहों के आधार पर पनपता जा रहा है। सब जानते हैं कि राम-मन्दिर के शिलान्यास में तथाकथित बाबरी मस्जिद को छुआ नहीं गया। इसलिए उसको गिराने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। वह एक काल्पनिक प्रवाद मात्र है। जहां तक राम-मन्दिर के शिलान्यास का प्रश्न है, उससे अल्पसंख्यकों का या उनके हित-अहित का क्या वास्ता? बहुसंख्यक हिन्दू जानें,

या उनके उपास्य भगवान राम जानें। इस शिलान्यास के बीच में अल्पसंख्यकों के अहित की बात कहाँ से आ टपकी?

जहाँ तक इन मुस्लिम देशों द्वारा भारत की धर्म-निरपेक्षता की आड़ लेने का प्रश्न है, वह भी बड़ा विचित्र है। भारत के संविधान की रक्षा की इतनी चिन्ता इन मुस्लिम देशों को क्यों हो गई? यदि भारत ने अपने संविधान में धर्म-निरपेक्षता का सिद्धांत स्वीकार किया है, तो भारत जाने और उसकी प्रजा जाने। इन कट्टर इस्लामी देशों के द्वारा धर्मनिरपेक्षता की आड़ ठीक वैसे ही है जैसे कि शैतान के मुंह से धर्म-ग्रन्थों के उद्धरण। जब शैतान के मुंह से धर्म-ग्रन्थों के उद्धरण की बात सामने आई तो "सैटेनिक वर्सज" नामक पुस्तक की याद क्यों न आती? इस पुस्तक में भी तो शैतान के मुंह से कुरान और हदीसों के ही उद्धरण हैं। अपने ही धर्म-ग्रन्थों के उद्धरण ये मुस्लिम देश सुनने और सहने को तैयार क्यों नहीं हैं? मरहूम अयातुल्ला खुमैनी ने रशदी को कत्ल करने का फरमान क्यों जारी किया था? क्या दर्पण में पड़ने वाले इस्लाम के सही अवस को वे बर्दाश्त नहीं कर सके?

धर्म निरपेक्षता की आड़ कोई और देश ले तो बात कुछ-कुछ समझ में आ सकती है, पर इन मतान्ध मुस्लिम देशों के द्वारा उसकी आड़ लेना ठीक ऐसे ही है जैसे कि कोई चोर किसी साहूकार से कहे—“मैं तो जन्मजात चोर हूँ, चोरी करना मेरा पेशा है, इसलिए मैं यदि चोरी करूँ तो वह गुनाह नहीं है। पर सेठ जी! आपने यह एक पैसे की चोरी कैसे कर ली, आप तो साहूकार हैं?” छाज बोले तो बोले, छलनी भी बोले जिसमें बहत्तर छेद? यह देहाती कहावत याद आये बिना नहीं रहती। जिन इस्लामी देशों में अल्पसंख्यकों का सफाया कर दिया गया है—जैसे पाकिस्तान, या जहाँ गैर मुसलमानों को अपने धर्म-ग्रन्थ पढ़ने, अपने धर्म-स्थान बनाने, या अपने ढंग से परमात्मा की उपासना करने का भी अधिकार नहीं है, जैसे अरब देश, उनके मुंह से राम-मन्दिर के शिलान्यास की अलोचना की क्या तुक है? अरब देशों में तो जो थोड़े बहुत हिन्दू कर्मचारी सर्विस आदि के सिलसिले में गये हैं, उनको अपने मृतकों का दाह-कर्म तक करने की छूट नहीं है, और ये भारत को धर्म-निरपेक्षता का उपदेश देना चाहते हैं। इनको अपनी आखों के शहतीर नहीं दिखते, परन्तु भारत की आंख का तिनका भी इतने दूर बैठे दिखाई देता है, जब कि भारतवासियों को खुर्दबीन से देखने पर भी वह तिनका कहीं दिखाई नहीं देता।

असल में इस्लाम की खास मनोवृत्ति है, और उस मनोवृत्ति का परिणाम जितना भारत को भुगतना पड़ता है, उतना किसी और देश को नहीं। यदि पाकिस्तान में भुट्टो को फांसी होती है तो कश्मीर में दंगा होता है, जैसे भारत सरकार ने फांसी दी हो। जब जनरल जिया की विमान दुर्घटना में मृत्यु होती है, तो फिर कश्मीर में दंगे होते हैं, जैसे वह विमान दुर्घटना भारत ने करवाई हो! जब मक्का में स्वयं

सउदी अरब की सरकार उपद्रवियों को मक्का शरीफ की मस्जिद से खदेड़ने के लिए गोली चलाती है, तब भी कश्मीर में दंगे होते हैं, जैसे वह गोली भारत सरकार चला रही हो। ऐसी घटनाओं के ऊपर जिनका कहीं भारत से दूर का भी वास्ता नहीं है, भारत में ही दंगे क्यों होते? संसार के किसी और देश में क्यों नहीं? क्या अन्य देशों में मुसलमान नहीं रहते, और क्या उनके ऊपर इन घटनाओं की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती?

जिस प्रकार पाकिस्तान की ओर से आतंकवादियों को धन और हथियारों की सहायता दी जाती है, और भारत को अस्थिर करने का निरन्तर प्रयत्न किया जाता है, क्या उसके विरोध में कभी किसी मुस्लिम देश ने आवाज उठाई? इतना ही क्यों? हम तो यह भी पूछते हैं कि फ़्रीजी में जब राबुका की मतान्ध सरकार के राज्य में वहाँ भारतीय मुसलमानों की मस्जिद पर बम फेंका गया तो क्या किसी मुस्लिम देश ने कोई आपत्ति की? क्या इन मुस्लिम देशों के मन में भारतवासी मुसलमानों के ही हितों की चिन्ता है, अन्य देशों में रहने वाले मुसलमानों की नहीं? यह अद्भुत भारत-प्रेम है।

अल्पसंख्यकवाद भारत की राजनीति का प्रमुख अंग रहा है और हर एक राजनीतिक पार्टी अपने चुनावी समीकरण इसी प्रतिस्पर्द्धा पर तोलती रही है कि कौन सी पार्टी मुसलमानों के अधिकतम वोट बटोर सकती है। आज़ादी के बाद से निरन्तर यही राजनीति चलती आ रही है और यह किसी हद तक सफल भी हुई। इसके दूरगामी परिणामों का चिन्तन बिना किए राजनीतिक दल ऐसे मुसलमानों के वर्गों को पनपाते रहे हैं जो समानान्तर राष्ट्रीयता के नाम पर अपने सम्प्रदाय की सामूहिक मांगों को मनवाने का खेल खेलने से बाज नहीं आते। इस मनोवृत्ति को पनपाने में भी धर्म-निरपेक्षता ही मूल कारण रही।

क्या समस्त मुस्लिम समाज किसी एक इमाम या शहाबुद्दीन के इशारे पर अपनी गाँठ की अक्ल ताक पर रखकर वोट देने को तैयार हो जायेगा? सहसा विश्वास नहीं होता। परन्तु मुस्लिम समाज में अब तक यही कुछ होता आया है और इसीलिए वहाँ मुल्ला और मौलवियों की वक़्त बढ़ गई है। अन्यथा इमाम बुखारी को पटाने के लिए सभी राजनैतिक दलों की ओर से यों दौड़-धूप न होती। इस मुस्लिम साम्प्रदायिकता का असर हिन्दू समाज पर भी पड़ने लगा है, और शायद पहला अवसर है जब साधु-सन्त भी मारी संख्या में राम-मन्दिर के आन्दोलन के साथ जुड़े हैं। अभी तक ये साधु-सन्त अपनी आध्यात्मिकता के विलास में इतने निमग्न थे कि उनको राष्ट्र की समस्याओं की चिन्ता नहीं थी। जिन समस्याओं की ओर देशवासियों का ध्यान खींचने के लिए अब तक केवल आर्य समाज ही सचेष्ट था अब उन समस्याओं के प्रति इन साधु-सन्तों की वाणी भी मुखर होने लगी है।



यह वर्तमान हिन्दू समाज में आन्तरिक परिवर्तन का सूचक है। अन्यथा हमने ऐसे शंकराचार्य भी देखे हैं, जो अपने भक्तों को हमेशा यही सलाह देते रहे हैं कि "राष्ट्र में क्या हो रहा है—इसकी चिन्ता मत करो। तुम तो केवल भजन और कीर्तन करते चले जाओ। आगे सब भगवान् संभालेंगे। जब पापों का घड़ा भर जाएगा तो पापियों के नाश के लिए स्वयं भगवान् अवतार ले लेंगे। तुम्हें पूजा पाठ के सिवाय कुछ और करने की ज़रूरत नहीं है।" अब मठाधीश सन्त भी अपने मठों से, और योगी—जन अपनी गुफाओं से निकल कर हिन्दू समाज में जागृति के लिए सन्नद्ध हुए हैं, यह शुभ लक्षण है।

प्रश्न हिन्दू या मुसलमान का नहीं है, अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक का भी नहीं है। प्रश्न तो भारतीयता और अभारतीयता का है। हमारी दृष्टि में हिन्दू और भारतीय दोनों पर्यायवाची हैं, क्योंकि इतिहास, भूगोल, भाषाविज्ञान और समाज—शास्त्र का यही तकाज़ा है। परन्तु किसी को हिन्दू शब्द पर आपत्ति हो तो हम कहेंगे कि चलिए, हिन्दू और मुसलमान की परिभाषा में सोचना छोड़िए और केवल भारतीय और अभारतीय की परिभाषा में सोचिए। श्री राम को भारत की आत्मा से और जनजीवन से कभी अलग नहीं किया जा सकता और बाबर को कभी भारत की आत्मा और जनजीवन से जोड़ा नहीं जा सकता। जिस आक्रमणकारी बाबर के समकालीन सन्तप्रवर गुरु नानक ने स्वयं अपनी आंखों से देखे उसके अत्याचारों का ऐसा दर्दनाक वर्णन किया है कि आज भी उसको पढ़कर किसी का भी दिल पसीजे बिना नहीं रह सकता। उस अत्याचारी, विदेशी और अभारतीय बादशाह की 'जामिया मिलिया' जैसी राष्ट्रीय संस्था में पांचसौवीं जयन्ती मनाई जाए, इससे बढ़कर अभारतीय मुस्लिम मानसिक विकृति का और क्या परिचय हो सकता है?

असल में तो हिन्दू जाति इतने अरसे बाद आंखें मलकर उठने का प्रयत्न कर रही है, यही उसका अपराध है। अन्यथा स्वराज्य—प्राप्ति के साथ ही बाबरी मस्जिद और राम—जन्मभूमि—विवाद का निपटारा हो जाना चाहिए था। केवल इसी का नहीं, बल्कि जितने भी अत्याचारी विदेशी हमलावर हुए हैं, उन सबके प्रतीकों और स्मारकों का, उनकी मूर्तियों का और उनके नाम से बनी इमारतों तथा सड़कों का निपटारा अब से ४२ वर्ष पूर्व हो जाना चाहिए था। परन्तु 'देर आयद दुरुस्त आयद'।

## सुभाषित

राष्ट्रमेव विश्वाहन्ति, तस्माद् राष्ट्री विशंघातकः। विशमेव राष्ट्रय्याद्यां करोति, तस्माद् राष्ट्री विशमति, न पुष्टं पशुं मन्यते इति।

शत० कां। प्र० २। ब्रा० ३।

जो राजा या राजवर्ग स्वच्छन्द होकर राज्य में प्रवेश करता है, वह राष्ट्र के लिए घातक होता है, वह प्रजा को ही खा जाता है, जैसे मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा जाते हैं।

## आरक्षण की उलझन-भरी समस्या

आरक्षण की समस्या जितनी उलझनकारी है, उसके समाधान के लिए उतनी ही अदूरदर्शिता से काम लिया जा रहा है। इस देश में भी दस करोड़ की आबादी वाली अनुसूचित जातियों के आरक्षण का विधेयक राज्यसभा में पारित हो चुका है और कदाचित् हमारी ये पंक्तियां पाठकों तक पहुंचे, इससे पहले ही यह विधेयक लोकसभा में पास भी हो चुका होगा।

राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने सत्तारूढ़ होते ही सबसे पहले यही विधेयक संसद में पास करना आवश्यक समझा है, उसका कारण यही है कि चुनावों से पहले उसने जो वायदे किए थे, उनमें आरक्षण-सम्बन्धी वायदा प्रमुख था। इसलिए यह मानकर चला जा सकता है कि राष्ट्रीय मोर्चे को विजय दिलवाने में अनुसूचित जातियों द्वारा मतदान का विशेष हाथ रहा होगा। कुछ जल्दबाजी इसलिए भी है कि वर्तमान आरक्षण की अवधि जनवरी मास के तीसरे सप्ताह में समाप्त हो रही है, इसलिए उससे पहले ही इस विधेयक की अवधि दस वर्ष और बढ़ाने की व्यवस्था की जा रही है।

परन्तु इस पहलू को नजरन्दाज़ नहीं किया जा सकता कि इस जल्दबाजी का प्रमुख कारण फरवरी में होने वाले विधान-सभाओं के चुनाव हैं। कांशीराम की बहुजन समाज पार्टी जिस तरह इन पिछड़ी जातियों में अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही है, उससे सभी राजनीतिक दलों को अपना जनाधार खिसकता दिखाई देता है। इसलिए उस विधेयक द्वारा वे विधान-सभाओं के चुनाव जीतना चाहते हैं।

प्रश्नों का एक प्रश्न यह है कि स्वयं कांग्रेस ने भी कभी आरक्षण का विरोध नहीं किया। वह भी दस-दस वर्ष करके पिछले चालीस वर्षों से आरक्षण की अवधि बढ़ाती जा रही है। अब भी वह दस वर्ष की अवधि और बढ़ाने को तैयार थी। फिर भी वह पराजित क्यों हो गई? इसके उत्तर में कहा जाता है कि कांग्रेस की सारी घोषणाएं कागजी थीं; उसने उन पर कभी ईमानदारी से अमल नहीं किया। इसलिए अब इन पिछड़ी जातियों का कांग्रेस से मोह-भंग हो चुका है। पर इसकी क्या गारण्टी है कि अब की गई घोषणाएं कागजी नहीं रह जाएंगी?

पर हम वर्तमान सरकार की भावी कार-गुजारी के सम्बन्ध में अभी से अशुभ भविष्यवाणी क्यों करें? अभी उसको जुम्मा-जुम्मा आठ ही दिन तो हुए हैं गद्दीनशीन हुए। उसे तो अपनी कार-गुजारी दिखाने का कुछ तो समय मिलना ही चाहिए।

आखिर आरक्षण की ज़रूरत क्यों पड़ी? ऐसी कौन सी मजबूरी थी जिसके कारण कांग्रेस को इसे स्वीकार करना पड़ा, जब कि उसके सामने अनुसूचित जातियों को अंग्रेजों द्वारा दिए गए आरक्षण के विरोध में महात्मा गाँधी द्वारा सन् १९३५ में किया गया विश्वविख्यात आमरण अनशन उदाहरण के रूप में मौजूद था? बहुत पहले अंग्रेजों ने सन् १८६२ में भी मुसलमानों के आरक्षण की व्यवस्था की थी। उसके बाद उन्होंने सन् १९२० में ईसाइयों को विशेष अधिकार देने की व्यवस्था की। इन व्यवस्थाओं में ब्रिटिश सरकार के मन में राजनीति ही अधिक थी, क्योंकि देश में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना के विरोध में वह ईसाइयों और मुसलमानों को खड़ा करना चाहती थी। जब ब्रिटिश सरकार ने सन् १९३५ में अनुसूचित जातियों के लिए भी वैसी ही व्यवस्था की तो महात्मा गांधी की आत्मा तिलमिला उठी और उसे उन्होंने राष्ट्रघाती समझते हुए उसके विरोध में आमरण अनशन की घोषणा कर दी। यह ध्यान रहे कि डा० भीमराव अम्बेडकर जैसे नेता उस समय आरक्षण के पक्ष में थे। पर समस्त राष्ट्रीय नेताओं के दबाव के सामने वे झुक गये और अन्ततः वे भी महात्मा गांधी के अनशन को तुड़वाने में सहायक बने। कुछ ही समय बाद अंग्रेजी शासन को वह आरक्षण की व्यवस्था वापिस लेनी पड़ी।

जरा सोचिए, महात्मा गांधी अनशन न करते और अंग्रेज़ उस व्यवस्था को वापिस न लेते तो उसका परिणाम क्या होता? जो परिणाम हुआ, वह जग-ज़ाहिर है। मुसलमानों को आरक्षण देने की ब्रिटिश कूटनीति अन्त में देश-विभाजन में और पाकिस्तान के रूप में फलीभूत हुई। यदि अनुसूचित जातियों को दिये जाने वाली आरक्षण की कूटनीति सफल हो जाती, तो उसका भी वैसा ही परिणाम नहीं होता, यह कौन कह सकता है?

पर हम केवल भावुकता की बात नहीं करते। हमें यह स्वीकार करना होगा कि गत सैंकड़ों वर्षों से अपने इन पिछड़े भाइयों से हमारे हिन्दू समाज ने अन्याय किया है, उन पर अत्याचार किया है, उनका दमन और शोषण किया है। और कोढ़ में खाज की तरह यह बात भी सत्य है कि उस अन्याय को धार्मिक और शास्त्रीय रूप दिया गया, जिसके प्रतीक पुरी के शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ जैसे धर्माचार्य आज भी मौजूद हैं, जो बीसवीं सदी में भी वही राग अलापते हैं कि स्त्री और शूद्र को शिक्षा का अधिकार नहीं है। ऐसे धर्माचार्य ही हिन्दू जाति को रसातल में ले जाने वाले हैं।

धन्यवाद हो स्वामी दयानन्द का जिसने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई, और पूरे शास्त्रीय प्रमाणों के साथ, यह घोषणा की कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं होती, कर्म के आधार पर होती है। ऋषि दयानन्द के इस सिंहनाद से अनुप्राणित होकर कितने आर्यसमाजियों ने अपने दलित और शोषित भाइयों को समाज का सवर्णों के समान उपयोगी अंग बनाने के लिए कितना बलिदान दिया है? आज का कोई राजनीतिक नेता—चाहे वह कांग्रेसी हो, या गैर—कांग्रेसी हो, उस बलिदान की कल्पना नहीं कर सकता।

आज यह कौन विश्वास करेगा कि स्वामी श्रद्धानन्द जैसे दिल्ली के बेताज बादशाह ने, जिसने खिलाफत आन्दोलन के दिनों में उत्तर भारत में कांग्रेस के सर्वोच्च नेता के रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता के सूत्र में बांध दिया था, कांग्रेस से केवल इसलिए इस्तीफा दिया कि उनके आग्रह से कांग्रेस ने दलितोद्धार के कार्य को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित तो कर लिया पर उसके लिए कभी ईमानदारी से काम नहीं किया। स्वामी श्रद्धानन्द ने सभी कांग्रेसी नेताओं को यह सुझाव भी दिया था कि वे अपने घरों में सेवा-कार्य के लिए केवल हरिजनों को रखें, और उनके साथ अपने परिवार के जनों जैसा व्यवहार करें। इस पर महात्मा गांधी, पं० नेहरू, चौ० चरणसिंह आदि कुछ अंगुलियों पर गिने जाने योग्य नेताओं को छोड़ कर और किसी ने ध्यान नहीं दिया। कांग्रेसी नेताओं की इसी द्वैध मानसिकता ने, इसी अपराध-बोध ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हरिजनों और अन्य अनुसूचित जातियों को आरक्षण देकर एक तरह से प्रायश्चित्त किया।

पर इस प्रायश्चित्त से भी अधिक उन सब राजानेताओं के मन में राजनीति थी। वे चुनावों में अपनी कुर्सी सुरक्षित रखने के लिए इन अनुसूचित जातियों को वोट-बैंक की तरह प्रयोग करना चाहते थे, और अब तक वैसे ही होता आया है।

शुरू-शुरू में, जब यह आरक्षण व्यवस्था की गई थी, तब समाजवाद, वर्गविहीन समाज, सब नागरिकों के लिए समानाधिकार आदि संविधान-घोषित आदर्शों के विपरीत होते हुए भी इसे एक 'आवश्यक बुराई' मान कर केवल दस वर्ष के लिए

तय किया गया था और यह सोचा गया कि दस वर्षों के अन्दर हम इन पिछड़ी जातियों को समाज के अन्य वर्गों के समान स्तर तक ले आएंगे। चालीस वर्ष हो गये और वह स्थिति नहीं आ पाई। अब तो यह भी कहा जा रहा है कि संविधान में आरक्षण की अवधि की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई। अर्थात् जिसे आवश्यक बुराई मानकर कुछ समय के लिए स्वीकार किया गया था, अब उसी को चिरस्थायी बनाया जा रहा है क्योंकि राजनीतिक नेताओं के सामने इन पिछड़ी जातियों के प्रति ममत्व नहीं, समान व्यवहार की आकांक्षा नहीं, केवल राजनीति है। वोट बैंक है। इसलिए उन्हें आरक्षण की बैसाखी देकर, वे उन्हें अपना वशंवद बनाये रखना चाहते हैं। उनका लाभ इसी में है कि ये बैसाखियां उनसे कभी अलग न हों, वे सदा विकलांग बने रहें।

सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि हमारे पूर्वजों ने पिछड़ी जातियों का अपमान किया था, इनके साथ अन्याय किया था, इसलिए इन्हें आज की पीढ़ी से आरक्षण मिलना चाहिए। पर यह तर्क ऐसा ही है जैसे कि भेड़िये ने मेमने से कहा था कि तूने नहीं, तो तेरे बाप ने गाली दी थी, इसलिए तुझे मेरा भक्ष्य बनना ही होगा। पूर्वजों का बदला नई पीढ़ी से क्यों ?

निवेदन यह है कि पिछड़ी जातियों को आपसे आरक्षण के रूप में दया की भीख नहीं चाहिए, उन्हें न्याय चाहिए, समान अवसर चाहिए, अपने पांवों पर खड़े होने का आत्म-विश्वास चाहिए। उन्हें आपका प्रेम चाहिए जो आपका कर्तव्य है। आप अपने कर्तव्य का पालन तो करते नहीं, अपनी दया दिखाकर उन्हें परोपजीवी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आरक्षण नहीं, रोजगार दीजिये। आप अपनी असमर्थता को सारे समाज पर लादना चाहते हैं और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का नारा लगाते-लगाते वर्गभेद पैदा करना चाहते हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि जन्म-जाति के भेद के अभिशाप को मिटाइए, केवल कार्य और योग्यता को महत्त्व दीजिए। योग्यता प्राप्त करने के सब अवसर उन्हें दीजिए। अवसर-प्राप्ति के सभी प्रकार के अवरोधों को दूर कीजिए, पर कसौटी केवल योग्यता को बनाइए, जन्म-जाति को नहीं। सभी सरकारी फार्मों से, शिक्षा संस्थाओं से और अन्य सब कार्यों से जन्म-जाति के उल्लेख को समाप्त करिए, शर्मा, वर्मा, गुप्ता या जन्म-जाति-द्योतक विशेषणों के प्रयोग को वर्जित करिए, और कार्मिक योग्यता को ही प्रश्रय दीजिए। अन्यथा हमें लगता है कि आप देश को एक नये अग्निकुण्ड में झोंक देंगे, जिसकी सबसे पहली लपटें आपको की झुलसा देगी।

## सुभाषित

संप्रदीपेषु देशेषु ब्राह्मणे चाति-पीडिते, अवर्षति च पर्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते।  
सर्वस्मिन् दस्युसाद् भूते पृथिव्यामुपजीवने, केन स्विद् ब्राह्मणो जीवेज् जघन्ये काल आगते।।

“विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत् तदा।।”

युधिष्ठिर भीष्मपितामह से पूछते हैं— ‘जब सारे देश में अव्यवस्था की आग जलती हो, शिक्षित और बुद्धिमान्—वर्ग अत्यन्त पीड़ित हो, वर्षा का अभाव हो, आपस में मतभेद हो, जनता के जीवन के साधन दस्युओं के वश में हों, ऐसे संकटकाल में शिक्षित वर्ग को कैसे जीना चाहिए।’

भीष्मपितामह इसका एक उत्तर देते हैं— ‘ऐसे समय शिक्षित वर्ग को विज्ञान का आश्रय लेकर ही जीना चाहिए।’

## आरक्षण या जातियुद्ध

पिछले दिनों हैदराबाद जाने का सौभाग्य मिला तो जहां ठहरे थे उसके निकट ही हनुमान जी के एक विशाल मंदिर को भी देखने का अवसर मिला। प्रातः—काल भ्रमण करते हुए उधर निकल गये तो देखा कि भक्तों की भीड़ नंगे पांव अपने हाथों में कुछ फूल या फूलमालाएं लिये विभिन्न दिशाओं से मंदिर की ओर आ रही है। उत्सुकता—वश हम भी देखने चले गये, तो देखा कि केवल हनुमान जी की ही नहीं बल्कि अन्य देवी—देवताओं की भी मूर्तियों के छोटे—छोटे मंदिर श्रेष्ठी भक्तजनों ने बनवा रखे हैं, और शिलापट्ट पर अपने नाम खुदवा रखे हैं। एक तरफ एक कमरा सन्त कबीर के नाम से भी बना हुआ था जिसमें कोई मूर्ति तो नहीं थी, परन्तु कबीर का चित्र रखा हुआ था। हमें आश्चर्य हुआ कि राम और रहीम को एक मानने वाले और मूर्तिपूजा का उपहास करने वाले रहस्यवादी सन्त कबीर को इस मंदिर में स्थान क्यों दिया गया? सम्भवतया किसी कबीर—पंथी भक्त का उत्साह रंग लाया हो? परन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य हमें सन्तोषी माता का मंदिर देखकर हुआ। वहां जो युवक तिलक लगाये पुजारी के रूप में उपस्थित था, और लोगों को चरणामृत तथा देवी का प्रसाद वितरित करता था, उससे यों ही हमने पूछ लिया कि सन्तोषी माता का उल्लेख कौन से वेद में या पुराण में विद्यमान है?

युवक ने कहा कि सन्तोषी माता का उल्लेख तो किसी भी शास्त्र में नहीं है। हमने कहा कि फिर तो यह कलयुगी देवी है न! साथ ही यह भी कहा कि ऐसे तो रोज नये देवी-देवता पैदा होते जायेंगे, जैसे कि आजकल नित्य नये भगवान पैदा होते जा रहे हैं, तो क्या तुम उन सबको भी देवी-देवता के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित करके पूजा करना प्रारम्भ कर दोगे? युवक के पास कोई उत्तर नहीं था। वह हमारी ओर देखने लगा, हमने पूछा — “कुछ पढ़े-लिखे हो”? उसने उत्तर दिया कि “हां, बी.एस.सी. पास हूं।” फिर हमने पूछा कि यहां हैदराबाद के रहने वाले हो या कहीं और के? उसने कहा कि — “मैं तमिलनाडु का रहने वाला हूं।” तब हमने कहा कि तुम पढ़े लिखे हो, फिर भी तुमको तमिलनाडु से यहां आना पड़ा, ऐसी तुम्हारे लिये क्या लाचारी थी? तब उसने उत्तर दिया — “मैंने ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, यही मेरा अपराध था। इसलिए अपने प्रदेश में आज मेरे लिए कहीं रोजगार नहीं है। पिता मेरे हैं नहीं, माता बूढ़ी है। उसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। यहां आने पर मुझे यह काम मिल गया तो इससे थोड़ा बहुत गुजारा चल जाता है।”

हमने पूछा — क्या तुम्हारे जैसे पढ़े-लिखे और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त युवक को इस पाषाण-प्रतिमा के पूजन में कुछ आत्मसन्तोष मिलता है? उसने विनम्रता पूर्वक कहा — “कुछ भी कह लीजिये, मन से एक बार जिसको भगवान् मान लिया सो मान लिया। फिर पेट का भी तो सवाल है। जब और कहीं कोई धन्धा नहीं, तो यही सही।”

तब हमने कहा — “मगर सन्तोषी माता तो मुसलमान थी। तुम उसको देवी बनाकर उसकी पूजा कर रहे हो, अन्य लोगों से पूजा करवाते हो। क्या तुम्हें इसका पाप नहीं लगेगा?” वह हतप्रभ होकर हमारे मुंह की ओर देखने लगा। बोला कि “आप कहते तो ठीक ही हैं। मैंने भी अपने कुछ आर्य समाजी मित्रों से यही बात सुनी है। पर मैं और क्या करूं? मेरी विवशता भी तो देखिये। मेरे जितने और साथी थे और जो ब्राह्मणकुलोत्पन्न थे, उनकी दुर्दशा मैंने अपनी आंखों से देखी है। मेरे तीन इंजीनियर साथी जो बड़े प्रतिभाशाली और होनहार थे, जीविका का कोई भी साधन न मिलने के कारण पागल हो गये। हम ब्राह्मणों को तमिलनाडु मन्दिरों में भी स्थान नहीं है। किसी और सरकारी सर्विस में भी कोई स्थान नहीं है। आखिर हम कहां जायें?”

तब हमने पूछा — “संस्कृत पढ़े हो?” वह बोला — “ब्राह्मण होकर संस्कृत नहीं पढ़ूंगा तो मेरा कुल कलंकित न होगा।” तब हमने कहा — “महाभारत में कर्ण नाम का एक पात्र है। तुमने अवश्य उसका नाम सुना होगा। जिस तरह का अपमान उसे सहन करना पड़ा था और उसकी जो भीषण प्रतिक्रिया उसके मन में हुई थी,

वह भी तुम्हें विदित होगी। परन्तु उसने भरी सभा में एक बात कही थी, वही तुम्हें सुनाते हैं। उसने कहा था -

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवान्यहम्।

दैवायत्तम् कुले जन्म मदायत्तम् तु पौरुषम्॥

- "मैं चाहे सूत होऊँ, चाहे सूत पुत्र होऊँ, कोई भी क्यों न होऊँ? मेरा जन्म मेरे हाथ में नहीं था, वह तो देव के आधीन था। मेरे हाथ में तो मेरा पौरुष है और मैं उसी के भरोसे जीना चाहता हूँ।"

युवक ने जब यह श्लोक सुना तो संस्कृत जानने के कारण वह इसका भाव भी समझ गया और उसकी आंखों में एक नई चमक आ गई। वह कहने लगा कि आपने तो मेरे मन की बात कह दी है। हम भी दया की भीख नहीं मांगते, अपने पौरुष के बल पर जीना चाहते हैं। परन्तु आज ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना हमारा सबसे बड़ा अपराध बन गया है। यदि मैंने किसी अवर (छोटे)-कुल में जन्म लिया होता तो बी.एस.सी. तक कठिन परिश्रम करके प्रथम श्रेणी प्राप्त करने की योग्यता न होने पर भी मेरे लिए रोजगार सुरक्षित था और मुझे यों दर-दर भटकना न पड़ता। अपने तीन इंजीनियर साथियों को जब मैंने अपनी आंखों के सामने पागल होते देखा तो मुझे डर लगा कि कहीं मैं भी पागल न हो जाऊँ और इसीलिये मुझे अपना घर छोड़कर परदेश में आना पड़ा। मैं नहीं जानता कि भविष्य में मेरे जीवन का और मेरी पढ़ाई-लिखाई का क्या परिणाम होगा। क्या मैं भी कभी किसी तरह देश और जाति के लिए कुछ उपयोगी कार्य कर सकूंगा?"

यह कहते हुए उसकी आंखें गीली हो गईं। हमारा भी जी भर आया और हम वहां से वापस लौट पड़े।

आरक्षण के पक्ष में नई भारत सरकार ने दस वर्ष की अवधि और बढ़ा दी है और पिछले ४० वर्षों से वह लगातार बढ़ती जा रही है। और अब तो यह भी कहा जा रहा है कि संविधान में उसकी अवधि की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि यह अवधि अनन्त काल तक भी बढ़ाई जा सकती है। यह राजनीतिक कलाबाजी ठीक वैसी ही भयंकर गलती है जैसे नेहरू जी द्वारा की गई घोषणा कि संविधान के द्वारा बेशक हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है, परन्तु वह तब तक लागू नहीं होगी जब तक कि देश में कोई भी राज्य उसका विरोध करने की स्थिति में होगा। इसका अर्थ यही है न कि सारा देश एक तरफ और नागालैण्ड जैसा छोटा सा राज्य एक तरफ। एक छोटा सा राज्य भी सारे देश में सम्मिलित निर्णय के विरुद्ध "वीटो" (निषेधाधिकार) का प्रयोग कर सकता है। अर्थात् न नौ मन तेल होगा और न राधिका नाचेगी। शुरू-शुरू में आरक्षण को आपने एक आवश्यक बुराई समझकर स्वीकार किया था और इसलिये बहुत



डरते-डरते केवल दस वर्ष के लिये उसकी सीमा निर्धारित की थी, पर अब वही बुराई सुरसा के वदन की तरह लगातार बढ़ती जा रही है, और कभी समाप्त होने के लक्षण नहीं है। एक बुराई को शुरू में थोड़ा सा प्रश्रय देने पर किस तरह वह हनुमान जी की पूंछ बनती चली जाती है, यह उसका स्पष्ट उदाहरण है।

हमें आरक्षण से विरोध नहीं है। जो समाज का दुर्बल वर्ग है उपेक्षित और दलित है, सदियों से लांछित होता आया है, उसे आरक्षण का अधिकार है। उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। सारा अनौचित्य केवल इस बात में है कि उस आरक्षण को जन्म-जाति से जोड़ दिया गया है। आरक्षण के सम्बन्ध में जितने तर्क दिये जाते हैं, उनकी सारी पोल केवल इसी एक बात में खुल जाती है कि एक ओर जन्म की जाति के आधार पर वर्गभेद मिटाकर सामाजिक समता की बात की जाती है, और दूसरी ओर उसी जन्मजाति के अभिशाप को वज्रलेपायित किया जाता है। यह अभिशाप कितनी अधिक आत्म-हीनता की भावना पैदा करता है, यह कभी सोचा है? यह आरक्षित जातियों को मानसिक दृष्टि से पंगु बनाता है। बिना बैसाखी के वे कभी चल नहीं सकेंगे। हाल ही में उड़ीसा के कैवर्ती ने यह आन्दोलन किया था कि हमको अनुसूचित जाति में न रखा जाये, क्योंकि हम चन्द सरकारी नौकरियों के लिये जाति-हीनता की स्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

हमें लगता है कि हाजी मस्तान ने 'हरिजन मुस्लिम भाई-भाई, हिन्दू कौम कहां से आई?' का जो नारा लगाया है, और कांशीराम ने हाजी मस्तान के प्रच्छन्न सहयोग से तथा चन्द ईसाई पादरियों के सहयोग से जो बहुजन समाज पार्टी बनाई है, एवं स्वयंभू नेता शाहबुद्दीन ने इंसाफ पार्टी के नाम से जो नया राजनीतिक खेल खेलना शुरू किया है, शायद उन सबका मुकाबला करने के लिये भारत सरकार ने आरक्षण को ब्रह्मास्त्र समझा है। परन्तु यह नीति सारे देश को एक नये जातियुद्ध में झोंक देगी जिसके दुष्परिणाम को हमारे अदूरदर्शी राजनीतिक नेता अभी समझ नहीं पा रहे हैं।

सब स्थानों से जन्म-जाति के उल्लेख को समाप्त करिए, फिर कमजोर वर्गों को यथोचित सहायता दीजिए, पर योग्यता और पुरुषार्थ को अपमानित मत करिए, अन्यथा एक नये जातियुद्ध का द्वार खुल जाएगा, जो देश का सर्वनाश कर देगा।

## सुभाषित

सुलभा : पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।  
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥  
यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।  
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

हे राजन् ! हमेशा मीठी-मीठी बातें करके लोगों को बरगलाने वाले लोग चाहे जहां मिल जाएंगे, पर कानों और मन को अप्रिय लगने वाली किन्तु हितकारी बात को कहने वाला और सुनने वाला दोनों दुर्लभ हैं ।

यौवन, धन-सम्पत्ति, सत्ता और प्रभुत्व तथा अविवेक एवं नासमझी — इनमें से एक-एक भी अनर्थ की जड़ है, जहां चारों इकट्ठे हो जाएं तो वहां अनर्थ का क्या ठिकाना !

## हों युवक डूबे भले ही ...

कभी कभी एक चिंगारी इतने भयंकर अग्निकाण्ड का रूप ग्रहण कर लेती है कि वह पूरे जंगल के जंगल को जलाकर खाक कर देती है । कहाँ छोटी सी चिनगारी, कहाँ इतना भयंकर अग्निकाण्ड ! एक इतनी सूक्ष्म, दूसरा इतना विकराल ! कोई कल्पना करेगा कि उसी चिनगारी का यह विराट् रूप है ? किसी जलती सिगरेट के टुकड़े का एक फूस की झोंपड़ी पर फेंक देने वाला क्या अपनी छोटी-सी नासमझी के होने वाले भयंकर दुष्परिणाम की कल्पना करता है ? एक सामान्य आदमी ऐसी नासमझी करे तो उसे लोग शायद नासमझ कह कर माफ कर दें, पर यदि एक प्रधानमंत्री ऐसी गलती करे, तो ? हां, तो ? तो सारे देश को उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा ।

मण्डल-आयोग की रपट को जल्दबाजी में लागू करने की चिंगारी ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है कि वह बुझने में नहीं आ रहा । बच्चे और किशोर-किशोरियां आत्मदाह कर रहें हैं, नींद की गोलियां खा रहे हैं, चूहे मारने की दवाई निगल रहे हैं, विष खा रहे हैं या गले में फाँसी लगा रहे हैं । उद्देश्य केवल एक है — किसी न किसी तरह अपनी जान खोनी है । जैसे सारा अपराध इस मासूम जान का है । जान भी किसी गैर की नहीं, अपनी और केवल अपनी । जैसे आत्महत्या भी कोई फैशन बन गया हो । अन्यथा यह कैसे होता कि एक महीने के अन्दर १६४ किशोर-किशोरियों ने आत्महत्या का प्रयत्न किया । अब तक उनमें से ६५ चिरनिद्रा में सो गए ।

‘फैशन’ शब्द का प्रयोग कर हम इन आत्महत्याओं का अवमूल्यन नहीं करना चाहते। हम जानते हैं कि यह चरम हताशा और परम निराशा की स्थिति की द्योतक है। जब यह निराशा की स्थिति असह्य हो जाती है, तभी व्यक्ति आत्महत्या जैसी मर्मन्तक वेदना सहने का उपक्रम करता है। इस वेदना से बढ़कर कोई और वेदना नहीं हो सकती। अपनी जान पर खेल जाना कोई हंसी-खेल नहीं है। आदमी के हाथ या पांव की अंगुली में थोड़ी-सी चोट लग जाए तो वह बिलबिला उठता है। फिर जान पर खेल जाने के लिए तो भारी हिम्मत और एक खास तरह का आत्मबल चाहिए। जब और कोई उपाय नहीं दिखाई देता और आदमी सब तरफ से अपने आपको असहाय और अनाश्रित पाता है, तभी वह ऐसा कठोरतम कदम उठाने की बात सोचता है। एक तरह से वह अपने आपको परिस्थितियों के समक्ष विवश अनुभव करता है और तब दिल कड़ा करके इस प्रकार का अवांछनीय कदम उठाने को बाध्य हो जाता है।

यों आत्महत्या कानूनन अपराध है और धार्मिक दृष्टि से अनैतिक भी है। पर यह कैसा विचित्र अपराध है ? यदि आप इस अपराध को करने का अर्थात् आत्महत्या करने का प्रयत्न करें, तो कानून की दृष्टि से आप दण्डनीय हैं, पर यदि आप यह अपराध कर डालें अर्थात् आत्महत्या कर ही डालें तो संसार की कोई अदालत और कोई पुलिस किसी प्रकार का दण्ड तो क्या, आप का बाल भी बाँका नहीं कर सकती। कारण — संसार का जो सबसे बड़ा दण्ड हो सकता था, वह स्वयं स्वेच्छा से आपने वरण कर लिया। अब आपका कोई क्या बिगाड़ लेगा ?

जहां तक आत्महत्या के धार्मिक दृष्टि से अनैतिक होने का प्रश्न है— शायद इस बात की आजकल के शिक्षित किशोर-किशोरियों में कोई अपील न हो, शायद धार्मिकता की बात सुनकर वे नाक-भों भी सिकौड़ना चाहें, पर हमारा कहना है कि इस आत्महत्या से भी आपका शरीर ही तो समाप्त होगा, आप तो समाप्त नहीं होंगे। फिर यही संसार होगा, फिर यही परिस्थितियां होगी, फिर यही परेशानियां होंगी। आत्महत्या करके जिस परेशानी से आपने बचना चाहा था, वह तो समाप्त नहीं हुई न। आप मरे, जग डूबा तो नहीं होगा न। जग तो ज्यों का त्यों रहेगा। आप एक डुबकी लगाकर फिर इसी संसार की लहरों में आ गिरेंगे। आत्महत्या करके भी आपको चैन तो नहीं मिला न ! प्रसिद्ध शायर जौक ने कहा है—

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएंगे।

मगर मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएंगे?।।

आत्महत्या एक और दृष्टि से भी अनैतिक है। यदि आपको कोई कीमती चीज़ अमानत के रूप में सौंपी जाए तो आपका यह नैतिक कर्तव्य है कि उस अमानत को यतनपूर्वक सहेज कर रखें और जिसकी अमानत है उसे यथासमय सुरक्षित

वापिस कर दें। यदि आप ऐसा नहीं करते, तो यह अमानत में खयानत है, यह बद-इखलाकी है, यह विश्वासघात है, यह गैर-इन्सानियत है, सभ्य-समाज के समस्त विधि-विधानों के विपरीत है। शिक्षित व्यक्तियों से तो इस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं की जाती।

सचमुच यदि आप परेशानियों से बचना चाहते हैं, तो उसके लिए प्रयत्न करना होगा, उचित और पर्याप्त प्रयत्न करना होगा। इसके लिए विवेक चाहिए, संकल्प चाहिए, साहस चाहिए और उच्च मनोबल चाहिए। जो अपनी मदद आप नहीं करता, परमात्मा भी उसकी मदद नहीं करता, 'हिम्मते मर्दा मदद-ए-खुदा।' अथवा- 'नाना - श्रान्तस्य सख्याय देवाः'- जो स्वयं प्रयत्न करके थक नहीं जाता, देवता भी उससे दोस्ती नहीं करते।

पर देवताओं की दोस्ती, खुदा की मेहरबानी या प्रभु की कृपा के स्वरूप को समझने की जरूरत है। ईश्वर की कृपा तो प्रतिपल और प्रतिक्षण बरस रही है, वह निरन्तर बरसती ही रहती है। पर जैसे वर्षा हो रही हो और हम अपना पात्र आँधा करके रख दें, तो उसमें वर्षा की एक बूंद भी नहीं गिरेगी। वर्षा होती रहेगी और हमारा पात्र खाली का खाली रहेगा। हम अपने पात्र को सीधा कर दें तो उसमें वर्षा का जल भरना शुरू हो जाएगा। उसी तरह यदि हम प्रयत्न करें तो ईश्वर की दया और सहायता हमें सदा सुलभ है। पर आत्महत्या तो पात्र को उल्टा कर देना ही नहीं, बल्कि फोड़ देना है। यह न तो बुद्धिमानी है, न ही बहादुरी है। इसलिए आत्महत्या अपने असली कर्त्तव्य से च्युत होना है, हीनता का द्योतक है, अपना अपमान है, कायरता और कमजोरी है।

कविवर बच्चन ने लिखा है -

हों युवक डूबे भले ही, किन्तु डूबा है न यौवन।

अभी डेढ़ सौ से ऊपर बच्चों ने और युवकों ने आत्महत्या और आत्मदाह का प्रयत्न किया है, गलत शिक्षा और गलत विचारधारा के कारण कुछ और युवक भी वैसा करें तो आश्चर्य नहीं। पर हमें विश्वास है कि यौवन कभी नहीं डूबता, वह डूबेगा भी नहीं। सरकार वी० पी० सिंह या राजीव या शरद यादव या पासवान नहीं हैं, असली सरकार तो हमारे युवा हैं। युवक ही तो असली राष्ट्र हैं। अगर वे नहीं रहे, तो राष्ट्र भी नहीं रहेगा। आत्महत्या करके निराशा और कायरता का विष राष्ट्र में मत घोलो, अपने संकल्प, संघर्ष और साहस का अमृत राष्ट्र में बांटो। पिछले दिनों वी० पी० सिंह ने जितनी घोषणाएं की हैं, उनमें एक ही घोषणा काम की है - 'मेरे बच्चों! मुझसे लड़ने और संघर्ष करने के लिए जीवित रहो।'

## सुभाषित

ऐ भारत ! क्या दूसरों की ही हां में हां, मिलाकर, दूसरों की ही नकल कर, परमुखापेक्षी होकर इन दासों की सी दुर्बलता, इस घृणित, जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े-बड़े अधिकार प्राप्त करोगे ? क्या इसी लज्जास्पद कापुरुषता से तुम वीरभोग्या स्वाधीनता प्राप्त करोगे ? ऐ भारत ! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं। मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए, अपने व्यक्तिगत - सुख के लिए नहीं है। मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो, मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है। तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं।

ऐ वीर ! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं। तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत होकर गर्व से पुकार कर कहो कि हर भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियां मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशुसज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है, और रात-दिन कहते रहो कि - 'हे जगदम्बे ! मुझे मनुष्यत्व दो; मां, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ !'

-स्वामी विवेकानन्द

## साम्प्रदायिक कौन? धर्म-निरपेक्ष कौन ?

आज की राजनीति में दो गालियां सबसे बड़ी मानी जाती हैं। अपने विरोधी को 'साम्प्रदायिक' और 'प्रतिक्रियावादी' कह दीजिए और फिर समझ लीजिए कि आपने तीर मार लिया। पर मुश्किल यह है कि परस्पर विरोधी दोनों ही पक्ष एक दूसरे को इस प्रकार की गालियों से अभिषिक्त करने से बाज नहीं आते। तब समस्या पैदा हो जाती है कि किसे साम्प्रदायिक समझा जाए और किसे धर्मनिरपेक्ष। यदि गालियों से ही फैसला करना हो, तो वह दोनों ओर बराबर हैं, इसलिए किसी एक पक्ष को साम्प्रदायिक और दूसरे को धर्मनिरपेक्ष मान लेना आसान नहीं है।

आज के राजनीति-बहुल युग में एक और विचित्र स्थिति पैदा हो गयी है। जो अन्दर से और बाहर से भी जितना अधिक साम्प्रदायिक है, वह उतने ही जोर से

अपने धर्मनिरपेक्ष होने का ढोल पीटता है। क्या मनोविज्ञान की दृष्टि से अपने मन का कलुष छिपाने के लिए ही यह ढोल पीटना आवश्यक है? यहीं 'थोथा चना, बाजे घना' की कहावत चरितार्थ होती है। इसलिए इन दोनों शब्दों के सही अर्थ पर शान्तचित्त से विचार करना आवश्यक है।

सम्प्रदाय शब्द अपने आप में बुरा नहीं है, इसलिये किसी सम्प्रदाय—विशेष का अनुयायी होने में भी कोई बुराई नहीं है। भारतीय परम्परा में नाना सम्प्रदायों का, विभिन्न गुरुओं का और औरों से भिन्न अपने विचारों का प्रचार करने वाले आचार्यों की कमी नहीं रही। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है, और 'मुण्डे—मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत प्रसिद्ध है। हरेक को अपनी बुद्धि से सोचने का अधिकार है, विचार की स्वतंत्रता है, और जब तक मनुष्य जाति रहेगी और उसमें बुद्धि—तत्त्व विद्यमान् रहेगा तब तक उसमें विचार—भेद रहेगा ही, क्योंकि हरेक मनुष्य की बुद्धि का स्तर अलग है और सांसारिक पदार्थों को देखने और समझने की उसकी दृष्टि भी अलग है। हरेक का अपना अनुभव भी अलग है, इसलिए वह अपने हिसाब से अपने विचारों को अभिव्यक्ति देता है। इसलिये वेद ने कहा है— 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' — एक ही सत्तावान् पदार्थ का बुद्धिमान् लोग अनेक ढंग से वर्णन करते हैं। यह हरेक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसी को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का मौलिक अधिकार माना गया है।

भारतीय संस्कृति ने इस विचार—स्वतन्त्रता को पूरा महत्त्व दिया है। इसलिए परस्पर विरुद्ध विचार रखने वाले सम्प्रदायों को भी इस देश में कभी संरक्षण का अभाव नहीं रहा।

यही कारण है कि इस देश में षड्—दर्शनों का प्रचार हुआ। यह एक तरह से किसी पदार्थ को छह दिशाओं से देखने का परिणाम था। पूर्व—पश्चिम, उत्तर—दक्षिण तथा ध्रुव और ऊर्ध्व (नीचे और ऊपर) — यही तो ६ दिशाएँ हैं। किसी एक दिशा से देखने वाले व्यक्ति की दृष्टि में वस्तु का पूरा रूप नहीं आएगा। जब छहों दिशाओं से देख कर वस्तु को ग्रहण करेंगे तभी उसका यथार्थ रूप हृदयंगम हो सकेगा। इसलिए इस देश में आस्तिक दर्शनों के साथ चार्वाक आदि नास्तिक दर्शनों को भी सदा दार्शनिक मान्यता मिली और विचार के स्तर पर उन्हें पूरा आदर दिया गया।

इस विचार—स्वतन्त्रता के कारण होने वाले आपसी टकराव को टालने के लिए यहां शास्त्रार्थों की परम्परा चली। आपस में बैठ कर अपनी विद्या, बुद्धि और अनुभव के आधार पर विचार—विनिमय करेंगे और जिसकी बात ठीक जंचेगी उसे स्वीकार कर लेंगे। यह कितना शिष्ट जनसम्मत तरीका था !

शास्त्रार्थों में जय-पराजय तो चलती थी, पर उसमें हिंसा या जोर-जबर्दस्ती का प्रश्न नहीं था। पराजित व्यक्ति विजेता का मत स्वीकार कर लेता था और उसे अपना गुरु मानकर उसका शिष्यत्व ग्रहण कर लेता था। यह एक स्वस्थ परम्परा थी। इसमें विचार-स्वातंत्र्य की छूट थी, बुद्धि और ज्ञान-विज्ञान के विकास की छूट थी और पारस्परिक सौहार्द के विकास की भी। भारत के सिवाय यह उदार परम्परा संसार के अन्य किसी देश में नहीं रही। इसीलिए यहां इतने मत-मतान्तरों का प्रचार होने पर भी उनमें सौमनस्य और 'जियो और जीने दो' की प्रवृत्ति पनपी और अन्त में विश्वबन्धुत्व और मानव मात्र की एकता की भावना फल्लवित हुई। यही भारतीय संस्कृति की संसार को सबसे बड़ी देन है।

इस दृष्टि से किसी सम्प्रदाय-विशेष का अनुयायी होने में कुछ भी अनुचित नहीं है। पर 'साम्प्रदायिकता' शब्द को गाली का रूप देने वाली यह बात नहीं है। यह गाली तब बनती है जब आप अपने सम्प्रदाय को अन्य सम्प्रदायों से श्रेष्ठ समझकर उसे जबर्दस्ती औरों पर थोपना चाहते हैं। यह बिना हिंसा के सम्भव नहीं है। तब वह हिंसा भी उनके सम्प्रदाय की मान्यता का अनिवार्य अंग बन जाती है। वहीं से गड़बड़ प्रारम्भ होती है। और 'साम्प्रदायिक' शब्द गाली बन जाता है, उसमें घृणा का विष भर जाता है।

अब जरा विचार करके देखिए। एक ओर वह वैदिक धर्म है जो खुले आम यह घोषणा करता है।

**यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्म 'वेद नेतर' :**

— जो तर्क से अनुसंधान करता है वही धर्म को पहचानता है, या 'धी' और 'विद्या' को धर्म का अंग मानता है। 'धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्' या 'धियो यो नः प्रचोदयात्' कह कर परमात्मा से अपनी बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना करता है और दूसरी ओर ऐसे मजहबों को मानने वाले लोग हैं जो अपने मजहब में अक्ल के दखल को स्वीकार नहीं करते या अपने मजहब को तलवार के जोर से फैलाना चाहते हैं; या इस बात पर गर्व करते हैं कि तेगों के साथ में हम पलकर बड़े हुए हैं।

असली घृणा—जन्य और घृणा—जनक साम्प्रदायिकता की जड़ ऐसे सम्प्रदाय या मजहब ही हैं।

अब रही बात धर्म-निरपेक्षता की। हमारा निवेदन है कि मूल रूप से 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द ही भ्रामक है। जिस अंग्रेजी 'सैक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में यह शब्द प्रचलित हो गया है, वह हमारे नेताओं के अज्ञान का सूचक है। यही कारण है कि भारतीय संविधान के अधिकृत सरकारी हिन्दी अनुवाद में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का सर्वथा अभाव है, वहां 'पन्थ-निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वही सही है। धर्म और पन्थ एक ही चीज़ नहीं है। धर्म सार्वत्रिक होता है मानव—मात्र का धर्म एक ही है। जिससे मानव जाति का अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध हो सके, बुद्धि—पूर्वक की गई ऐसी व्यवस्था का नाम ही धर्म है। उसमें कहीं मतभेद नहीं होगा, यदि होगा भी तो उसे बुद्धिपूर्वक सुलझाया जा सकता है। आखिर परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि किसलिये दी है? क्या मानव जाति के विनाश के लिए या उसकी रक्षा और उन्नति के लिए? मज़हब और पन्थ को 'धर्म' शब्द से सम्बोधित करना ही भारी भूल है। पन्थ केवल एक मार्ग है— मंज़िल तक पहुंचने के लिए। वह स्वयं मंज़िल नहीं है।

आश्चर्य है कि जो मज़हब के मामले में 'बुद्धि के प्रवेश को वर्जित' मानते हैं, आज वे ही अपने आपको सबसे बड़ा असाम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष घोषित कर रहे हैं, जबकि सारे अनर्थ की जड़ वे स्वयं हैं। वे ही सबसे बड़े साम्प्रदायिक हैं। और वे 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' की कहावत को सार्थक करते हैं।

४ नवम्बर १९६०



'धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के कारण इस देश में अल्पसंख्यकों ने धर्म के नाम पर विशेषाधिकार प्राप्त करने और बहुसंख्यकों को उन्हें मानने के लिए बाधित करने के आन्दोलन भी समय—समय पर कम नहीं किये हैं। अल्पसंख्यक अपनी मनमानी के लिए धर्म के नाम पर प्रशासन को बाधित करते रहे हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते रहे हैं कि उनके धार्मिक नियम सर्वोपरि हैं; उनके ऊपर राष्ट्र का कोई कानून लागू नहीं होता, अर्थात् वे देश के कानूनों से ऊपर हैं। जब धर्म के नाम पर तस्करी, लूट, हत्या और आतंकवाद को प्रश्रय दिया जाता है, तब यह प्रश्न और भी गम्भीर हो जाता है। इसलिए सारे देश में इस समय यह मांग उठ रही है कि धर्म को राजनीति से अलग रखा जाए और किसी धर्म—संस्थान को राजनीति में दखल देने की अनुमति नहीं दी जाए।'

—'चयनिका', पृष्ठ १६६



## सुभाषित

इतिहास के बड़े लोगों के बारे में चाहे वह बुद्ध हों या अशोक, देश के चौथाई से अधिक लोग अनभिज्ञ हैं। दस में एक को उनके काम के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी होगी। देश के तीन सबसे बड़े पौराणिक नाम—राम, कृष्ण और शिव, सबको मालूम हैं। उनके काम के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी सभी को होगी। वे हमारे रक्त और मांस में घुले हैं। उनके संवाद और उक्तियाँ, उनके आचार और कर्म, भिन्न-भिन्न मौकों पर किये उनके काम, यह सब भारतीय लोगों की जानी-पहचानी चीजें हैं। यह सचमुच एक भारतीय की आस्था और कसौटी हैं...

हे भारत माता ! हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो, राम का कर्म और वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो...

मेरा बस चलता तो मैं हर हिन्दू को सिखलाता कि रज़िया, जायसी, शेरशाह, रहीम उनके पुरखे हैं। साथ ही हर मुसलमान को सिखलाता कि गज़नी, गौरी, और बाबर उनके पुरखे नहीं, बल्कि हमलावर हैं।

- राम मनोहर लोहिया

## राम या बाबर

ऊपर हमने जान-बूझकर राम मनोहर लोहिया के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। लोहिया के इसलिये कि वे अपने आपको खुले आम नास्तिक घोषित करते थे। उनके लिए हिन्दू और मुसलमान का कोई फर्क नहीं था, इसलिए किसी भी तरह से उनके ऊपर साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। परन्तु वे राष्ट्रीय एकता के अखण्ड उपासक थे। लोहिया के विचार हमने इसलिये भी उद्धृत किये हैं कि आज प्रधानमंत्री और उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पिछड़ों के मसीहा बनने और सामाजिक क्रांति के सूत्रधार कहलाने का श्रेय बारम्बार अपने ऊपर लेते हैं। वे अपने आपको लोहिया के विचार से अनुप्राणित, प्रेरित मानते हैं और अपने आपको उनका शिष्य कहने में भी गर्व अनुभव करते हैं। परन्तु राष्ट्रीय एकता की जो अखण्ड उपासना लोहिया के तन-मन में रची-बसी थी, लगता है, हमारे इन आधुनिक मसीहाओं ने उसी एकता को अपनी नासमझी से छिन्न-भिन्न करने का ठेका लिया है। अपनी नासमझी में इतनी दूर तक आगे बढ़ गये हैं कि निरीह

और निहत्थों पर अन्धाधुन्ध फ़ायरिंग करने और उनके खून से हाथ रंगने पर लज्जा का अनुभव नहीं करते। इतना ही नहीं, वे एक दूसरे की नासमझी के लिए “अहो रूपमहो ध्वनिः” कहकर प्रशंसा करते भी नहीं अघाते। यह वैसा बर्बरी और जंगली दृश्य है जब नरभक्षी राक्षस मनुष्यों को आग में भूनते हुए अग्नि के चारों ओर खुशी से नाचते थे।

शायद हम कठोर शब्दों का प्रयोग कर गये हैं। परन्तु इस समय जैसे हालात चल रहे हैं, उनको देखते हुए किसी भी संवेदनशील हृदय की इतनी मानसिक प्रतिक्रिया तो कम से कम है। यदि प्रतिक्रिया और उग्र हो जाये तो इसका रूप क्या होगा, इसकी हम कल्पना भी करना नहीं चाहते। परन्तु भावना में बह कर समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए तो कुछ गम्भीर रूप से सोचना होगा और अपने दिमाग की बन्द खिड़कियों को खोलना होगा। यह बात हम उन राजनैतिक नेताओं को लक्ष्य करके ही नहीं, क्योंकि वे आज हैं, कल वे नहीं रहेंगे, उन बुद्धिजीवियों को लक्ष्य करके भी कह रहे हैं, जिनको अपने बुद्धिजीवी होने पर गर्व है, परन्तु सबसे अधिक उन्हीं के दिमागों की खिड़कियां बन्द हैं। इसमें भी शायद दोष उनका नहीं, प्रत्युत उस शिक्षा-दीक्षा का है जिसमें वे पले और बढ़े हैं। दोष उस विचारधारा का है जिसने उन्हें जनता से काटकर एक शीशे के कटघरे में खड़ा कर दिया है, जिस कटघरे में अपने स्वार्थों के कारण जान बूझ कर निकलना नहीं चाहते हैं। दोष उस इतिहास का है जो अब तक उनको पढ़ाया गया है, जिसके लेखकों ने कभी भारत की राष्ट्रीय अस्मिता को और यहां के जनसाधारण की मानसिकता को समझने का प्रयत्न नहीं किया। आज़ादी के बाद इस देश का शासक वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग उसी मानसिक गुलामी का शिकार है।

सबसे पहला प्रश्न यह है कि आप जिसे भारत राष्ट्र कहते हैं, उसका स्वरूप क्या है? क्या उसका अपना कोई इतिहास नहीं है? क्या उसकी अपनी कोई संस्कृति नहीं है? क्या यहां के निवासियों को दर-किनार करके केवल भौगोलिक सीमाओं से बंधे और पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण दिशाओं में निर्जीव भूखण्ड को ही राष्ट्र कहा जाता है? नदियों, पहाड़ों, जंगलों, पठारों और धरातलीय भूभाग को गिनाकार आप उसे देश तो कह सकते हैं, किन्तु राष्ट्र नहीं।

इसके अतिरिक्त क्या आप यह मानते हैं कि भारत नाम का यह राष्ट्र अंग्रेज़ों का शासन आ जाने के बाद ही पैदा हुआ है? इसके और आगे बढ़ें तो अब से ७०० वर्ष पूर्व जाकर मुसलमानों के आगमन के साथ यह राष्ट्र अस्तित्व में आया है? यदि आप स्वयं को इतिहास-वेत्ता मानकर और आगे बढ़ेंगे, तो कहेंगे कि महात्मा बुद्ध और अशोक के बाद यह राष्ट्र संसार के नक्शे पर आया

है! अगर आपकी बुद्धि आपको यहीं तक ले जाती है, तो हमें आपसे कुछ नहीं कहना है।

हमारा अगला प्रश्न यह है कि आप इस देश के ८५% कहे जाने वाले विशाल हिन्दू समाज को नकार कर क्या भारत राष्ट्र की कोई कल्पना कर सकते हैं? आपके सब आरोप हम मानने को तैयार हैं कि हिन्दू अन्ध-विश्वासी हैं, पाखंडी हैं, जातिवाद के रोग से ग्रस्त हैं, डरपोक हैं, साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय हैं, प्रतिक्रियावादी हैं, युग की आवश्यकताओं को न समझने वाले हैं, आदि आदि। परन्तु प्रश्न केवल यही है कि हिन्दू जैसे भी हैं, हैं, परन्तु क्या उनके बिना इस भारत नाम के राष्ट्र की कोई कल्पना की जा सकती है? अपने सब तथाकथित आरोपों के बावजूद जो व्यक्ति हिन्दू को समाज से अलग करके राष्ट्र को देखना चाहता है, उससे बढ़कर दिवांध कौन होगा? हिन्दू जैसे भी हैं, उनको उसी रूप में स्वीकार करके इस देश का सबसे बड़ा घटक माने बिना राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रह सकता।

अब एक अगला प्रश्न! इस राष्ट्र के सम्प्रदाय-निरपेक्ष (सेक्युलर) होने के बहुत गीत गाये जाते हैं और सबसे अधिक उसी की दुहाई दी जाती है। परन्तु हम अपने भ्रान्त बुद्धिजीवियों और शासकों से पूछना चाहते हैं कि भारतीय संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता या पंथ-निरपेक्षता को जो स्थान दिया गया है, जिस पर गर्व करते हम कभी थकते नहीं, क्या वह केवल इस देश के हिन्दू-बहुल होने के कारण ही नहीं है? अन्यथा भारत के चारों ओर जितने देश हैं उनमें से किसी एक का नाम तो गिना दीजिये जिसने अपने संविधान में सम्प्रदाय-निरपेक्षता को स्थान दिया हो। संसार में ४५ देश हैं, जिनमें कम या बहुत मुसलमान आबाद हैं। उनमें से क्या कोई देश सम्प्रदाय-निरपेक्ष कहा जा सकता है? सभी सम्प्रदायों के प्रति उदारता, सहानुभूति और सहिष्णुता की प्रवृत्ति सारे विश्व को केवल हिन्दू समाज की देन है। जितने सेमेटिक मज़हब हैं, वे उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

यहीं हम यह भी कह देना चाहते हैं कि सम्प्रदाय फतवों और हुकुमदारों से चलते हैं, और जिनमें न कोई लोकतंत्र है और न ही अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदारता, उनको किसी भी हालत में लोकतंत्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता की दुहाई देने का अधिकार नहीं है। नहीं तो इसका अर्थ यह होगा कि चोर साहूकार को साहूकारी की दुहाई देता रहेगा, और स्वयं चोरी करने की छूट पाता रहेगा।

अब हमारा अन्तिम प्रश्न है कि इस देश में राम की पूजा होगी या बाबर की? राम भारतीय आस्था के भारतीय अस्मिता के भारतीय संस्कृति के और इतिहास के उदात्त प्रतीक हैं। क्या इनमें से एक भी गुण बाबर में बताया जा सकता है?

हां वह लुटेरा है, हत्यारा है, विदेशी है, हमलावर है, और अत्याचारी है। क्या उसको कभी इस देश का हीरो माना जा सकता है ?

प्रश्न हिन्दू या मुसलमान का नहीं है। न ही मस्जिद और मन्दिर का है। प्रश्न केवल बाबर और राम का है। जो लोग बाबर को अपना आदर्श नहीं बनाना चाहते वे राष्ट्र को कलंकित करने वाले चिह्न का विरोध करते हैं। राम को अपना पूज्य मानने वाले इस राष्ट्र की चिरपुरातन संस्कृति के और मानवीय आदर्शों के संरक्षक हैं। इस दृष्टि से सोचने पर ही समस्या का समाधान सम्भव है, और किसी तरह से नहीं। हमको बाबर नहीं चाहिए। उसके न रहने से राष्ट्र की कोई हानि होने वाली नहीं है। पर राम तो भारत की आत्मा है, उनके बिना राष्ट्र केवल निर्जीव भूखण्ड—मात्र है।

११ नवम्बर १९६०



“निष्कर्ष—रूप में हम कह सकते हैं कि धर्म का भारतीय परम्परा वाला अर्थ स्वीकार करने पर धर्म राजनीति के लिए भी वांछनीय है, परन्तु पाश्चात्य परम्परा वाला धर्म राजनीति से सर्वथा दूर रहना चाहिए। सोवियत संघ, वियतनाम, चीन, इण्डोनेशिया, मिस्र और तुर्की ने यही किया है। वे किसी भी साम्प्रदायिक धर्म को अपनी राजनीति पर हावी नहीं होने देते। यदि भारत सरकार सही तौर से देश के सैक्युलर, धर्मनिरपेक्ष नहीं पंथ—निरपेक्ष संविधान की रक्षा करना चाहती है, तो उसे बहुजन—समाज के हितों की उपेक्षा करके केवल क्षणिक राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अल्पसंख्यकों या विभिन्न सम्प्रदायों को महत्व देने से बाज आना होगा।

तर्क—विरुद्ध, बुद्धि—विरुद्ध और विज्ञान—विरुद्ध साम्प्रदायिक मान्यताओं को, अन्धविश्वासों को और चमत्कारों के नाम पर जनता को लूटने वाले साधु—संतों को नियन्त्रण में रखना होगा। इसी का फलितार्थ यह भी है कि उसे साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता देना बन्द करना होगा। चुनावों में सम्प्रदाय और जाति के आधार पर उम्मीदवार खड़े करने पर रोक लगानी होगी। धार्मिक स्थानों पर राजनैतिक गतिविधियों पर अंकुश लगाना होगा, क्योंकि इसके बिना न राज्य टिक सकता है न राष्ट्र।”

—‘त्रयनिका’ पृष्ठ १७६—१७७

## सुभाषित

प्रमाणमप्रमाणं वै, यः कुर्यादबुधो जनः।  
न स प्रमाणातामर्हो, विवादजनको हि सः॥  
न याचेत परान् धीरः, स्वबाहुबलमाश्रयेत्।  
स्वशरीरं सदा रक्षेद्, आहाराचारयोरपि॥

महामारत-अ० १६२/२५, अ० १४२

जो अज्ञानी मनुष्य प्रमाण को भी प्रमाण नहीं मानता और उसे अप्रमाण कहता है, उसकी प्रामाणिकता माननीय नहीं है, क्योंकि वह केवल विवाद उत्पन्न करना चाहता है।

धीर पुरुष दूसरों से याचना न करे, अपने बाहुबल का ही भरोसा रखे! आचार-व्यवहार और आहार से भी सदा अपने शरीर की रक्षा करे।

## धार्मिक पूजा-स्थल विधेयक

बचपन में जब-जब इतिहास की पुस्तकों में कलकत्ते के ब्लैक-होल (काल-कोठरी) वाली घटना पढ़ी कि किस प्रकार हिन्दुस्तानियों ने १४६ अंग्रेजों को एक छोटी-सी कोठरी में ज़बर्दस्ती बन्द कर दिया और अगले दिन वे सब के सब अंग्रेज दम घुटने से मृत पाए गए, तब अपने देशवासियों की इस हैवानियत और निर्ममता पर मन आक्रोश से भर उठा था। बाद में जब पता लगा कि यह घटना कभी घटी ही नहीं और अंग्रेज-इतिहासकारों ने हिन्दुस्तानियों को बदनाम करने के लिए यह घटना अपनी कल्पना से गढ़ ली है, तब आत्मदोष के बजाए आत्मतोष का अनुभव हुआ। यदि यह घटना गलत न होती तो जब सन् १६४० के आसपास सुभाष बोस ने और फारवर्ड ब्लाक के उनके कुछ अनुयायियों ने इस ब्लैक-होल के बदनुमा धब्बे को हटाने के लिए सत्याग्रह किया, तो अंग्रेज शासकों ने बिना इसका पक्ष लिये, इसको चुपचाप शांत-भाव से स्वयं निस्सार कर दिया था। मुझे अपनी बांग्लादेश की यात्रा में स्वयं वहां के तत्कालीन प्रधानमंत्री बंगबन्धु मुजीबुर्रहमान ने एक निजी साक्षात्कार में बड़े गर्व के साथ बताया था कि उस समय उस सत्याग्रह में वे भी शामिल थे, क्योंकि वे भी तब फारवर्ड ब्लाक के सक्रिय सदस्य थे।

अंग्रेजों का शासन समाप्त होने के बाद तो अनेक परिवर्तन हुए, जिनकी ब्रिटिश हुकूमत के समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। लालकिले की प्राचीर से यूनिनन जैक तो हटा ही, कितने अंग्रेज सेनापतियों और बड़े सरकारी अधिकारियों

की मूल्यवान प्रतिमाएं भी हटा दी गयीं। स्वयं दिल्ली का ही उदाहरण लें। कहां गई घण्टाघर के और टाउन हाल के बीच में बनी उस विक्टोरिया की मूर्ति जो ब्रिटिश साम्राज्य की अप्रतिम साम्राज्ञी की यादगार थी? कहां गई पंचम जार्ज की मूर्ति, नेलसन जैसे सेनापति की मूर्ति और अनेक इतिहास-प्रसिद्ध अंग्रेज़ विजेताओं की मूर्तियां? हार्डिंग लायब्रेरी अब लाला हरदयाल पुस्तकालय क्यों बन गया? लेडी हार्डिंग हॉस्पिटल सुचेता कृपलानी अस्पताल क्यों बन गया? विलिंगडन हॉस्पिटल राममनोहर लोहिया अस्पताल कैसे बन गया और इरविन हॉस्पिटल जयप्रकाश नारायण अस्पताल कैसे बन गया? कहां गई गैस्टन बैस्टन रोड? जी०टी० रोड अब श्रद्धानन्द मार्ग? यह सूची इतनी लंबी है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसका परिगणन भी मुश्किल है।

यह भी स्मरण रहे कि ये सब परिवर्तन १५ अगस्त १९४७ के बाद हुए हैं। अब वायसरीगल लॉज नहीं है, राष्ट्रपति-भवन है, पार्लियामेंट हाउस नहीं संसद-भवन है, पार्लियामेंट स्ट्रीट नहीं, संसद-मार्ग है, रेडियो स्टेशन नहीं आकाशवाणी-भवन है, टी०वी० सेंटर नहीं दूरदर्शन निदेशालय है। सचमुच सूची बहुत लम्बी है। क्या कभी किसी अंग्रेज़ ने इस परिवर्तन का विरोध किया? क्या ब्रिटिश पार्लियामेंट ने इस परिवर्तन के विरोध में कभी कोई प्रस्ताव पास किया? हां, अंग्रेज़ों के मानसपुत्रों को ये परिवर्तन भले ही न पड़े हों और मन ही मन हिन्दुस्तानियों की जहालत पर कुढ़े भी हों, पर जब सारा देश ही इतना 'जाहिल' हो जाए तो ऐसे मानसपुत्रों की दाल कैसे गलती? केवल दिल्ली में ही नहीं, देश के अन्य स्थानों पर भी इस प्रकार के परिवर्तनों की भरमार है।

क्यों हुए ये परिवर्तन? क्योंकि ये परिवर्तन एक आज़ाद देश की अस्मिता की और आत्मचेतना की मांग थे। यदि कोई अंग्रेज़ या उनके मानसपुत्र इन परिवर्तनों का विरोध करते, तो भी ये परिवर्तन रोके नहीं जा सकते थे। क्योंकि इनके पीछे प्रबल जन-भावनाएं थीं।

शायद आप कहेंगे कि सरकार ने लोकसभा और राज्यसभा में जो विधेयक पारित किया है, यह तो धार्मिक पूजा-स्थलों के सम्बन्ध में है और ऊपर हमने जितने उदाहरण दिये हैं वे पूजास्थलों से सम्बन्धित नहीं हैं। माना, पर हमारा निवेदन है कि जितने तथाकथित प्रगतिशील इतिहासकार हैं, वे सब एड़ी-चोटी का जोर लगाकर यह सिद्ध करने में लगे हैं कि बाबर तो कभी अयोध्या गया ही नहीं, इसलिए उसके द्वारा मंदिर तोड़कर मस्जिद बनाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हुजूर आप बजा फरमाते हैं, बाबर ने यह मस्जिद नहीं बनवाई। फिर इसका नाम बाबरी मस्जिद कैसे-क्यों? हमने तो यह भी सुना है कि इस स्थान का नाम बाबरी मस्जिद कभी था ही नहीं। यह नाम तो इमाम बुखारी साहब ने दिया है, जो मुसलमानों के स्वयंभू

नेता हैं — स्वयंभू न सही— विश्वनाथ प्रतापसिंह तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं द्वारा निर्मित नेता सही। प्रत्यक्षदर्शी जानते हैं कि अयोध्या में जो इमारती ढांचा खड़ा है, वह किसी दृष्टि से मस्जिद नहीं कहला सकता। वहां पिछले ५० सालों में कभी नमाज़ नहीं पढ़ी गई, आगे भविष्य में भी कभी नमाज़ पढ़े जाने की कोई उम्मीद नहीं। यह सही है कि जिस मौलाना 'बकी' ने यह ढांचा खड़ा किया था, उसके नाम का शिलालेख वहां लगा है। उस बकी के वंशज अभी तक फैज़ाबाद में मौजूद हैं। वे इस सारे विवाद में सर्वथा मौन रहे हैं, जब कि शोर मचाने वाले अन्य लोग हैं, जिनका इस स्थान से कोई दूर का भी वास्ता नहीं।

फिर १५ अगस्त सन् १९४७ की सीमा क्यों निर्धारित की? क्या उससे पहले यह देश नहीं था? क्या उससे पहले इस देश में हिन्दू और मुसलमान नहीं थे, या मन्दिर और मस्जिद नहीं थे? फिर १५ अगस्त सन् १९४७ की सीमा निर्धारित करने के पीछे क्या यह भाव है कि उसी दिन यह देश सचमुच अस्तित्व में आया, क्योंकि नेहरू जी इसके प्रधानमंत्री बने और उन्होंने ही 'डिस्कवरी आफ इंडिया' के द्वारा इसे 'डिस्कवर' किया। अन्यथा इसके अस्तित्व को कौन जानता था? फिर प्रश्न यह भी है कि सोमनाथ के मंदिर का आप क्या करेंगे, जो १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद बना है? क्या उसको ढहाने की हिम्मत आप में है? फिर प्रश्नों का प्रश्न यह भी है कि आपने कश्मीर के पूजास्थलों को इस विधेयक से मुक्त क्यों रखा है? क्या इसलिए कि वहां जो सौ से अधिक मंदिर गिराये गए हैं, उनके जीर्णोद्धार की ताकत आप में नहीं है? यदि आपको विधेयक पारित करना ही था तो ऐसा करते कि मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से पूर्व की स्थिति को यथावत् रखने का फैसला करते। तब तो आपकी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान होती! अब तो आपने स्वयं ही असंगतियों का ढेर खड़ा कर दिया।

हमारा कहना यह है कि यह मंदिर-मस्जिद का प्रश्न नहीं है — यह प्रश्न है केवल राम और बाबर का। मूल समस्या यह है कि आप इस देश का 'हीरो' राम को मानते हैं, या बाबर को। बाबर को बड़ा परोपकारी बादशाह सिद्ध करने वाले, और उसके नाम से जाली वसीयत तैयार करके अखबारों में छपवाने वाले, क्या अपने हजारों प्रयत्नों से गुरुनानक जैसे सन्त द्वारा 'बाबरवाणी' में उल्लिखित बाबर के अत्याचारी रूप को मिटा सकते हैं? यह नहीं भूलना चाहिए कि गुरुनानक बाबर के समकालीन थे, और उन्होंने जो कुछ अपनी आंखों से देखा वही 'बाबरवाणी' में लिखा है। हम राष्ट्रीय मोर्चा, वामपंथी मोर्चा और समाजवादी जनता दल से भी कहना चाहते हैं कि एक ओर आप अपने आपको राममनोहर लोहिया का शिष्य कहलाने का दावा करते हैं, पर दूसरी ओर इस तथ्य को भूल जाते हैं कि स्वयं लोहिया ने स्पष्ट घोषणा की थी कि हमारा 'हीरो' राम ही हो सकता है, बाबर नहीं,

क्योंकि बाबर हमलावर था और राम नैतिक आदर्शों के प्रतीक हैं। उन्होंने भारत के मुसलमानों को भी यही मानने की सलाह दी थी।

हमारा अन्तिम प्रश्न यह है कि सिंध के नेता और 'जिये सिंध' आंदोलन के अप्रतिम प्रणेता श्री जी.एम. सैयद घोषणा कर सकते हैं कि सिंध का 'हीरो' राजा दाहर ही हो सकता है, मुहम्मद बिन कासिम नहीं, क्योंकि वह तो केवल हमलावर और लुटेरा था। फिर भारत के मुसलमान बाबर को हमलावर और राम को अपना आदर्श नायक क्यों नहीं मान सकते? क्या आप इतिहास की बर्बरता को चिरस्थायी बनाकर राष्ट्रीय अस्मिता को समाप्त कर देना चाहते हैं? राम आखिरकार तो उन मुसलमानों के भी पूर्वज हैं, केवल हिन्दुओं के नहीं। अपने-अपने बाप-दादों के अस्तित्व को नकारने वाले को आप क्या कहेंगे? अपने दादा और परदादा के अस्तित्व को न मानने वाले स्वयं को अपने पिता की संतान भी कैसे कहेंगे — क्योंकि दादा नहीं, तो पिता भी नहीं।

क्या आपको नहीं लगता कि कुछ लोगों ने अपनी अक्ल कहीं और बंधक रखी हुई है?

२६ सितम्बर १९६१



### सर्व-धर्म-समभाव

'धर्म और राजनीति की इस बहस में एक पहलू और विचारणीय है। आजकल धर्मनिरपेक्ष शब्द का जो उदार अर्थ किया जाता है, वह सर्व-धर्म-समभाव है। इस शब्द से जो सहिष्णुता की ध्वनि प्रकट होती है, वह निश्चित रूप से भारतीय परम्परा की ही देन है, इस्लामी या ईसाई-परम्परा की नहीं, क्योंकि 'सामी मजहब' (Semetic Religions) हमेशा अपने खुदा, अपने पैगम्बर और उनके कर्मकाण्ड से अधिक अच्छा बताते रहे हैं। अपने मत से भिन्न मत वालों को काफिर कहने में जिस गौरव की अनुभूति उन्हें होती है, वही उनको जिहाद के लिए प्रेरित करती है; और वे जिहाद के नाम पर इतनी क्रूरता तक उतर सकते हैं कि उसके सामने इन्सानियत तो क्या, हैवानियत भी मात खा जाए। यूरोप के मध्य-युग का इतिहास ईसाइयत और इस्लाम के इसी संघर्ष की दर्दनाक कहानी है।'

— 'द्ययनिका', पृष्ठ १७२



## सुभाषित

“आज का युवक सोचता है कि क्या वह अब भी उन भ्रान्तियों का शिकार बना रहे, जिनके बारे में वह जानता है कि ये असत्य हैं। अथवा वह इस झूठी प्रतिष्ठा की नकाब को फाड़ डाले और जीवन के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करे, जहाँ स्वयं के एकाकीपन और किसी भी समय आ दबोचने वाली मृत्यु की सम्भावना की स्वीकृति के द्वारा वह स्वतन्त्रता और स्वयं के अस्तित्व की सार्थकता के तत्त्वों को पा सकता है। यही वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जो आज सारे संसार के युवकों के सम्मुख उपस्थित है।”

- ‘युग चिन्तन’ से

## साफ़गोई से कतराना क्यों ?

एक बार दिल्ली के एक उच्चपदस्थ प्रतिष्ठित पादरी से बात हो रही थी। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने आर्य समाज की विशेषता के बारे में जानना चाहा। हमने आर्य समाज के दस नियम निकाल कर उनके सामने रख दिये और कहा कि इनमें कहीं आपका मतभेद हो तो बताइए। उन्होंने दसों नियम ध्यान से पढ़े और तीसरे नियम पर अंगुली रख कर बोले — ‘इसमें मतभेद की गुंजाइश है, बाकी तो सब ठीक है।’ आर्य—बन्धु जानते हैं कि तीसरा नियम है — “वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, और उसका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।” हमने कहा “इसमें भी कोई बाध्यता नहीं है। यदि आप अपने आपको आर्य नहीं समझते या आर्य अर्थात् श्रेष्ठ नहीं बनना चाहते, तो भले ही वेद मत पढ़िये।” वे प्रसन्न होकर बोले — “यदि ऐसी बात है तो मैं इन दसों नियमों पर आँख बन्द करके हस्ताक्षर करने को तैयार हूँ।”

फिर हमने कहा — “यदि ईसाइयत के भी कोई ऐसे नियम हों, जिन पर मैं भी आँख बन्द कर हस्ताक्षर कर सकूँ, तो बताइए।” वे बगलें झांकने लगे। थोड़ा ठहर कर बोले — “सरमन ऑन द माउण्ट” के बारे में आपकी क्या राय है ?” हमने कहा — “उसका ईसाइयत से क्या लेना-देना है? वह तो भारतीय योगदर्शन के सूत्र — “तत्रार्हिसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः” का अनुवाद—मात्र है। उसमें नया कुछ भी नहीं है।” फिर हमने हंसते हुए कहा — “अब तो नेहरु जी ने उसे धर्मशास्त्रों से निकाल कर पंचशील के नाम से राजनीति में भी प्रतिष्ठित कर दिया है (जिसे अंग्रेज़ी वाले अभी तक ‘पंचशिला’ कहने से बाज़ नहीं आते।)” जिन्हें वाजपेयी को

‘वाजपायी’, केरल को ‘केरला’ और कर्नाटक को ‘कर्नाटका’ कहते शर्म नहीं आती, उन्हें ‘पंचशिला’ कहने में क्यों शर्म आएगी ? वे लोग वाजपेयी को भी यदि ‘बाजपायी’ के बजाय किसी दिन ‘भाजपायी’ कहने लग जायें तो आश्चर्य नहीं! पर वह तब कुछ सार्थक होगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पादरी महोदय के पास कोई उत्तर नहीं था। इसी तरह आर्य समाज का सातवां नियम है ‘सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य बर्ताव करना चाहिए।’ यह भी व्यवहारोपयोगी ऐसा स्वर्णिम सूत्र है कि इससे सामाजिक मर्यादा और मानवीय गरिमा दोनों सुरक्षित रह सकते हैं। पर हमारी सरकार ने आज तक ‘सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार’ आचरण करने के नियम का तो कुछ पालन किया, पर ‘यथायोग्य बरतना चाहिए’ का कभी पालन नहीं किया। हमारे संकटों का मूल इसी कमी में निहित है। विशेष रूप से राजनीति तो इसके बिना चल ही नहीं सकती। इसीलिए प्राचीन नीति-शास्त्रों में राजनीति का पर्याय दण्डनीति को माना गया है। अर्थात् राज्य का मुख्य काम है सज्जनों की रक्षा करना, और उसका मुख्य उपाय है दुष्टों को दण्ड देना। गीता में इसी को ‘परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्’ कहा गया है। बिना दुष्टों को दण्ड दिये सज्जनों की रक्षा नहीं हो सकती। ये दोनों काम साथ-साथ चलते हैं। यही राज्य की सार्थकता है। इसी में उसकी सफलता निहित है।

इसी यथायोग्य व्यवहार के स्वर्णसूत्र को न अपनाने के कारण हमने यथार्थ से आँखें मोड़ ली हैं, और हममें से साफ़गोई निकल गई है। हमने साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता शब्द गढ़ लिये हैं, उनके मनमाने अर्थ कर लिये हैं, और इन्हीं दोनों को लेकर केवल वाद-विवाद ही नहीं, हमारी सारी राजनीति चलती है। अपने विरोधी को गाली देनी हो तो उसे ‘साम्प्रदायिक’ कह दीजिए और अपने आपको ‘धर्मनिरपेक्षता’ के आलम्बरदार सिद्ध करिये, जबकि ‘धर्मनिरपेक्षता’ शब्द भारतीय परिवेश में सर्वथा अप्रासंगिक है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पालित-पोषित होने के कारण ‘सेक्युलर’ शब्द ले लिया और धर्म शब्द के सही तत्त्व को न समझने के कारण उसे केवल सम्प्रदाय, मज़हब, पन्थ और ‘रिलिजन’ के अर्थ में प्रयुक्त कर दिया एवं उसका अनुवाद प्रचलित कर दिया — ‘धर्मनिरपेक्षता’, जो सर्वथा अयुक्ति-युक्त है। धर्मनिरपेक्षता का सीधा तर्क-संगत अर्थापत्ति-जन्य तात्पर्य होगा — ‘अधर्म-सापेक्षता’। क्या इसे कोई मानने को तैयार होगा ? इसीलिए संविधान के प्रामाणिक और अधिकृत हिन्दी अनुवाद में ‘सेक्युलर’ का अर्थ ‘धर्मनिरपेक्षता नहीं, ‘पन्थ-निरपेक्षता’ किया गया है, जो किसी हद तक सही है। वस्तुतः ‘सेक्युलर’ का सही अर्थ है — ऐहिक, इहलौकिक (पारलौकिक के विरुद्ध)। इसलिए इसे ‘लोकायतिक’ शब्द से अभिहित किया जाना चाहिए। पर ‘लोकायतिक’

शब्द संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में चार्वाक और वाम-मार्ग के लिए रूढ़ हो गया है। इसलिए हम संसार-परक या 'पन्थ-निरपेक्ष' शब्द से सन्तोष कर सकते हैं। हमारे विचारशील और विद्वान् प्रधानमंत्री श्री नरसिंहराव (जिन्हें अंग्रेजी वाले 'नर सिन्हा' कहने से बाज नहीं आते) भी यह स्पष्ट कर चुके हैं कि 'सेक्युलर' का अर्थ धर्महीनता नहीं, सम्प्रदाय और पन्थ-निरपेक्षता है।

यहीं हम एक बात और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। साम्प्रदायिक शब्द में मूलतः कोई दोष नहीं है, क्योंकि किसी भी सम्प्रदाय को किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा और कर्मकाण्ड को मान्यता देना कोई अपराध नहीं है। वह विचार-स्वातंत्र्य की निशानी है। यह विचार-स्वातंत्र्य संसार को केवल हिन्दुओं की ही देन है। यह उनकी कष्टरता-रहित सामाजिकता है, यह उनके स्वभाव का अंग है। इसीलिए हिन्दू शब्द में भारत में उपजे सभी सम्प्रदायों का समावेश है। भारत में उपजे सम्प्रदाय ही क्या, भारत से बाहर के पारसी, यहूदी, ईसाइयत और इस्लाम को भी उसने उसी तरह विचार-स्वातंत्र्य का और भारतीय नागरिकता का अधिकार प्रदान किया है, जिस तरह हिन्दू-धर्म या हिन्दुत्व के अन्तर्गत समाविष्ट शैव-वैष्णव-शक्त आदि मतमतान्तरों को किया है। इसीलिए सही अर्थों में हिन्दू शब्द राष्ट्रवाचक है, किसी सम्प्रदाय का वाचक नहीं। जितने सेमेटिक मज़हब हैं, उनमें इस विचार-सहिष्णुता का सर्वथा अभाव है। वे अपने-अपने सम्प्रदायों को औरों पर छल और बल से थोपना चाहते हैं। यहीं आकर साम्प्रदायिकता ज़हर बन जाती है।

यह कितनी प्रसन्नता की बात है कि आज सभी राजनैतिक दल इस साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए कटिबद्ध हैं। और तो और, अब देश के अधिकांश लेखकों बुद्धिजीवियों और पत्रकारों ने मिलकर संगठित रूप से साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए कलम और कुठार दोनों का प्रयोग करने का निश्चय किया है। यह देश के बुद्धिजीवियों की जागरूकता की निशानी है।

काश ! कि ऐसा होता। पर सारा आवा कितना उलट गया है! यह इससे पता लगता है कि उनकी दृष्टि में केवल हिन्दू होना ही साम्प्रदायिकता है, और गैर-हिन्दू होना असाम्प्रदायिकता। अंग्रेजों की बलिहारी-जिन्होंने यह विकृत मानसिकता इन शिक्षित लोगों को दी। 'पहले हिन्दू को साम्प्रदायिक कहो, और फिर उसके विरोध में मोर्चा लगाओ।' यह तो वही बात हुई कि पहले किसी को गाली दो, और फिर उसे गोली भी मार दो।

साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लाठी हाथ में संभालने वाले ये लोग कौन हैं? राजनीति के ठेकेदार और फिर उन ठेकेदारों के पालतू पत्रकार। राजनीति के ये ठेकेदार पहले खुद साम्प्रदायिकता को हवा देते हैं। फिर उसके विरुद्ध लड़ने के लिए खम

ठोकते हैं। इस बहती गंगा में हाथ धोकर कुछ 'पुण्य' कमाने वाले पत्रकार भला फिर पीछे क्यों रहें? वे तो जन्मजात 'पुण्यात्मा' हैं। इस पुण्य के बिना उनकी आत्मा को चैन कहाँ?

ये राजनीतिक दल वे हैं जिनका राष्ट्र केवल जामा मस्जिद से लेकर बिहार तक है, या वी०पी० के मण्डल से लेकर लालू के कमण्डल तक है। इन राजनीतिज्ञों के सामने अवसरवादिता, स्वार्थपरायणता और कुर्सी-दौड़ के सिवाय राष्ट्र की और राष्ट्रीय अस्मिता की कोई सही अवधारणा नहीं है। इसीलिए वे पंजाब या कश्मीर में जाकर आतंकवादियों के विरुद्ध मोर्चा नहीं लगायेंगे। उलटे पाकिस्तान या आतंकवादियों के साथ सदा सुलह-सफाई की सलाह देंगे। क्योंकि राष्ट्र की एकता या अखंडता की चिन्ता उन्हें नहीं है। उनके लिए राष्ट्र भी एक पूंजीवादी अवधारणा है। उनके लिए 'राष्ट्र' शब्द ही तिरस्कृत है, क्योंकि वह संस्कृत का शब्द है और संस्कृत उनकी दृष्टि में अछूत है, वह भी ब्राह्मणवाद का अवशेष है। इसलिए ये लोग अपनी मानसिक चौहद्दी से बाहर निकल कर कभी 'यथायोग्य व्यवहार' की बात सोच ही नहीं सकते, न साफ़गोई से पेश आ सकते हैं।

१५ दिसम्बर १९६१



'धर्म और राजनीति की प्रतिद्वन्द्विता यूरोप के इतिहास की देन है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद वहाँ क्रिश्चियन चर्च ने इतने अधिक अधिकार बटोर लिए कि वह जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वाधिकारी बन बैठा। उसने अपने कानून, अपने न्यायालय और अपने कारागार बना लिए, घर-बार और ज़मीन-जायदाद पर कब्ज़ा कर लिया। सारे यूरोप में २० प्रतिशत ज़मीन अपने हाथ में करके वह अकूत सम्पदा का मालिक बन गया। चर्च इस हद तक निरकुंश हो गया कि अपने विरोधियों को ज़िन्दा जलाने और तड़पा-तड़पाकर मारने को भी वह अपने धर्म का ही हिस्सा समझने लगा। यह वही युग था जब घोप लोक और परलोक दोनों का सबसे बड़ा ठेकेदार बनकर स्वर्ग की हुण्डी लिखकर दिया करता था। यूरोप के मध्य-युग का इतिहास चर्च की इस सर्वसत्ता-वादिता का ही इतिहास है।'

—'चयनिका', पृष्ठ १७१

## सुभाषित

न जातु कामात्र भयान्न लोभात्  
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।  
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये  
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।

(महाभारत, उद्योगपर्व ४०/१३)

कभी भी किसी स्वार्थपूर्ण कामना से, भय से या लोभ से या अपने जीवन की खातिर भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि धर्म नित्य है, जबकि सुख और दुःख अनित्य है। जीव भी नित्य है, उसे जन्म-धारण कराने के कारण अनित्य हैं।

## सही राष्ट्रवादी स्वामी श्रद्धानन्द

अब्दुल रशीद नामक मुस्लिम हत्यारे ने छल से रुग्ण स्वामी श्रद्धानन्द के निवास पर गोली मार कर उनकी हत्या कर दी। इससे बलिदानी श्रद्धानन्द तो अमरहुतात्मा बन गये, पर अब्दुल रशीद हत्यारे का हत्यारा ही रहा और उसे फांसी मिली। पर अपने आपको राष्ट्रवाद का हामी कहने वालों ने तभी से स्वामी श्रद्धानन्द को साम्प्रदायिक-शिरोमणि के रूप में प्रचारित करना शुरू कर दिया। यों भी आर्यसमाज का इतिहास सदा से बलिदानों का इतिहास रहा है, और इसी कारण बहुत से तथाकथित राष्ट्रवादी नेता कभी-कभी आर्यसमाज को भी साम्प्रदायिक कहने से बाज नहीं आते।

सच तो यह है कि कांग्रेस से लेकर अन्य सभी राजनीतिक दलों में राष्ट्र और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में एक सर्वथा गलत, अयथार्थ और मनमानी अवधारणा घर कर गई है। उस अवधारणा के पीछे न कोई तर्क है, न इतिहास। आश्चर्य है कि आजकल के अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षित तथाकथित बुद्धिजीवी भी, जो समाचार-पत्रों से लेकर सभी आधुनिक संचार-साधनों पर छाये हुए हैं, उसी गलत अवधारणा का प्रचार करते नहीं थकते, और अपने से भिन्न तर्कशुद्ध विचार वालों को तुरन्त 'साम्प्रदायिक' और 'प्रतिक्रियावादी' कहने लग जाते हैं। आजकल की राजनीति में उक्त दोनों शब्द ही अपने प्रतिपक्षी के लिए गाली के रूप में व्यवहार किये जाते हैं।

अब समय आ गया है कि राष्ट्रहित के चिन्तक सभी विचारकों को राष्ट्र और राष्ट्रवाद की सही अवधारणा पर राष्ट्रीय स्तर पर बहस चलानी चाहिए और इस

पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए जिससे छद्म-राष्ट्रीयता की घोल खुल सके। कई सही राजनीतिक नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस विषय पर खुलकर बहस और विचार-विनिमय का आह्वान भी किया है, किन्तु कोई राजनीतिक दल और उनके पिछलग्गू स्वार्थान्ध बुद्धिजीवी इसके लिए कभी तैयार नहीं होते, क्योंकि अपने अन्तःकरण में वे भी जानते हैं कि उनकी राष्ट्र के सम्बन्ध में अवधारणा यथार्थ पर आधारित नहीं है। इसीलिए राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त भ्रामक हैं और उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ राष्ट्र को विघटन की ओर ले जाने वाली सिद्ध होती हैं। देश की आधुनिक दुर्दशा का यह प्रबल वैचारिक विग्रम है।

इन तथाकथित राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के कई वर्ग हैं। एक वर्ग वह है जो यह मानता है कि इस देश में मुसलमानों के आगमन के बाद से ही देश का राष्ट्र के रूप में उभरना शुरू हुआ। स्वयं भारतीय दूरदर्शन इस बात का निस्संकोच प्रचार करता रहा। पाठक भूले नहीं होंगे, जब प्रायः प्रतिदिन दूरदर्शन राष्ट्रीयता के नाम पर यह शेर प्रचारित करता था।

**सरजमीने हिन्द पर, अखलाके आवामे फिराक।**

**काफ़िले बसते गए, हिन्दोस्तां बनता गया।।**

कोई इन 'इतिहास के पण्डितों' से पूछे कि इन हमलावर मुस्लिम काफिलों के आने के बाद से ही हिन्दोस्तान का निर्माण शुरू हुआ था, तो वे कौन से हिन्द की सरजमीन पर हमला करने आए थे? क्या जिस तरह कोलम्बस ने अमरीका की खोज की थी, उसी तरह इन मुस्लिम काफिलों ने हिन्दुस्तान की खोज की थी? उससे पहले संसार के मानचित्र में उसका कोई स्थान नहीं था। आश्चर्य तो इस बात का है कि कोलम्बस भी वास्तव में हिन्दुस्तान को जानने के लिए ही निकला था, पर वह पहुंच गया अमरीका। इसीलिए उसने मूल अमरीकी आदिवासियों को 'रैड इंडियन' के नाम से सम्बोधित किया था।

इन छद्म-राष्ट्रवादियों का एक वर्ग वह है जो अपने अंग्रेज-आकाओं द्वारा लिखित इतिहास की पुस्तकों को पढ़कर यह कहता है कि अंग्रेजों के आने से पहले यह देश एक राष्ट्र कभी रहा ही नहीं। अंग्रेजी ने, अंग्रेजी शिक्षा ने, अंग्रेजों ने और उनकी चलाई रेलों ने और डाक-व्यवस्था ने ही इस देश को एक राष्ट्र का रूप दिया। इसी वर्ग में एक उपवर्ग ऐसा है जो आज भी भारत को एक राष्ट्र कहने के बजाय अनेक राष्ट्रों का समुच्चय और उपमहाद्वीप कहने में गर्व अनुभव करता है। इस उपवर्ग में अधिकांश वामपंथी बुद्धिजीवी शामिल हैं।

इन राष्ट्रवादियों का एक अन्य वर्ग वह है जो यह मानता है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने ही सारे देश में स्वतंत्रता आन्दोलन जगाकर इसमें एक राष्ट्र की भावना

पैदा की है। पर अब महात्मा गांधी को भी धराधाम से गए ४३ वर्ष हो रहे हैं, तो इस वर्ग में उस समय के कुछ स्वतंत्रता-सेनानी ही शेष रह गये हैं।

शेष आधुनिकतम बुद्धिजीवी वर्ग वह है जो यह कहते नहीं अघाता कि असली राष्ट्र-निर्माता केवल पं० जवाहर लाल नेहरू थे या नेहरू-वंश के उत्तराधिकारी हैं, जिनमें इन्दिरा गांधी और राजीव गांधी शामिल हैं। यह वर्ग अभी तक यही स्वप्न देखता है कि एक दिन सोनिया गांधी राजनीति में आएंगी, क्योंकि वही अपने नेहरू-वंशीय प्रभापुंज से राष्ट्र को एक रखने में सक्षम हैं। यह वर्ग सोचता है कि हमारा चाहे कोई जनाधार हो या न हो, पर इसी चाटुकारिता के सोपान पर चढ़ कर देश की बागडोर संभालने का अवसर हमको ही मिलेगा।

एक वर्ग वह भी है जो धर्मनिरपेक्षता के नारे की आड़ में बुद्धिजीविता की चाशनी मिलाकर कहता है कि गैर-हिन्दू होना ही राष्ट्रीयता है, और हिन्दुत्व साम्प्रदायिकता का पर्याय है। शाहबुद्दीन जब 'मुस्लिम इंडिया' पत्र निकालते हैं, तो वे राष्ट्रीय हैं, और जब भाजपा वाले 'हिन्दू इंडिया' की बात करते हैं, तो वे साम्प्रदायिक हैं। शाहबुद्दीन तो यह भी कहते हैं कि जब मुसलमानों से कहा जाता है कि राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हों, तो वह मुख्यधारा क्या है, यह हम नहीं जानते।

शाहबुद्दीन तो पढ़े-लिखे हैं, आई०ए०एस० हैं, वे मैक्समूलर की 'हाट इंडिया कैन टीच अस' किताब ही पढ़ लेते। फिर भी क्या वे नहीं जानते कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त, वेदों से लेकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तक, उपनिषदों से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के औपनिषदिक साहित्य तक, वैदिक संस्कृत से लेकर समस्त भारतीय भाषाओं की अभिव्यक्ति तक जो एक अविच्छिन्न धारा निरन्तर बहती चली आ रही है, वही इस देश की मुख्यधारा है? विभिन्न देशों से आने वाले परदेसियों को जिस देश ने अपने अंक में समेटकर एक सहिष्णुता की सामाजिक मर्यादा स्थापित की है, क्या वह मुख्यधारा नहीं है? क्या इतिहास में तुमने कभी मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त और चाणक्य का, पुष्यमित्र और पतंजलि का, शकारि विक्रमादित्य का, हूण-मानमर्दनकारी समुद्रगुप्त का नाम नहीं सुना? फिर तुम्हारे राष्ट्रीय ध्वज में अशोक का चक्रचिह्न कहां से आ गया?

एक बार डा० जाकिर हुसैन जैसे राष्ट्रवादी नेता ने, जो जामिया मिलिया के संस्थापकों में माने जाते हैं, स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान के कई वर्ष पश्चात् कहा था कि 'गुरुकुल कांगड़ी सही रूप में राष्ट्रीय संस्था नहीं है, असली राष्ट्रीय संस्था तो जामिया मिलिया है।' तब आचार्य अभयदेव जी गुरुकुल के आचार्य थे। उन्होंने इसका ऐसा सटीक और युक्तियुक्त उत्तर दिया था कि तथाकथित समस्त राष्ट्रवादी नेताओं की बोलती बन्द हो गई थी। 'जिस जामिया मिलिया में भारत

पर आक्रमण करने वाले बाबर की पांच सौवीं जयन्ती मनाई जाए, उसे कौन राष्ट्रीय संस्था कहेगा?’

स्वामी श्रद्धानन्द को साम्प्रदायिक कहने वाले निश्चित रूप से राष्ट्रवाद का सही अर्थ नहीं समझते, और न ही उनके मन में राष्ट्र की सही अवधारणा है। उनके बलिदान के पश्चात् स्वयं महात्मा गांधी ने उनके सम्बन्ध में जो लेख लिखा था उसमें यह स्पष्ट किया कि स्वामी जी में मुस्लिम-विद्वेष बिल्कुल नहीं था। डा० अन्सारी उनके निजी चिकित्सक थे। हकीम अजमल खाँ से उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। ‘हम’ शब्द की जो व्याख्या स्वामी जी ने की थी — ‘ह’ से हिन्दू और ‘म’ से मुसलमान — इन दोनों को मिलाकर ही ‘हम’ शब्द बनता है। इससे बढ़कर उनकी उदारता का और राष्ट्रीयता का और क्या सबूत हो सकता है? तुर्की में कमालपाशा की विजय पर उन्होंने अपने निवास पर दिवाली मनाई थी। तब किसी ने उनसे कहा था कि यह आप क्या कर रहे हैं? उन्होंने कहा था — ‘कमालपाशा असली राष्ट्रवादी है। मैं सभी राष्ट्रवादी मुसलमानों का आदर करता हूँ। पर जो अन्दर से साम्प्रदायिक हैं और बाहर से राष्ट्रीयता का खोल ओढ़े रखते हैं, मैं उनकी प्रशंसा नहीं कर सकता।’

स्वामी श्रद्धानन्द के राष्ट्रवादी स्वरूप को हमारे राजनैतिक नेता कब समझेंगे? इस अंक में इस विषय पर इतना ही कहना काफी है। अन्यथा इस विषय में हमारे पास कहने को बहुत कुछ है।

२६ दिसम्बर १९६१



‘साम्प्रदायिक मान्यता को धर्म का रूप देने का यही दुष्परिणाम होगा। अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार राजनीति को चलाने वाले तथा सियासत और मजहब को परस्पर जोड़ने वाले इस्लाम-मतानुयायी न केवल अपने से भिन्न मतावलम्बियों को काफिर कहते हैं, उनका धर्मग्रन्थ काफिरों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था भी करता है। दारुल-हरब और दारुल-इस्लाम की फिलॉसफी के उपासक, किसी गैर-इस्लामिक राज्य के प्रति निष्ठा न रखना, अपना धर्म समझते हैं। सैमेटिक मजहबों के साथ-साथ अन्य पंथों और सम्प्रदायों में भी यही प्रवृत्ति उभर रही है। यही ‘फंडमेंटलिज्म’ (Fundamentalism) है। अब अकाली भी खुमैनी के रास्ते पर चल रहे हैं।’

—‘चयनिका’, पृष्ठ १७२



## राम—जन्मभूमि के बारे में पांडुलिपियां मिलीं

लखनऊ १४ अप्रैल। अयोध्या में राम—जन्मभूमि से संबंधित १८वीं सदी की दो महत्वपूर्ण पांडुलिपियां मिली हैं। इनमें राम—जन्मभूमि और उसके आसपास की इमारतों का नाप—जोख—सहित उल्लेख है। सन् १७३२ में संत लालदास की लिखी किताब 'अवध विलास' के छंदों और दोहों से साबित होता है कि विवादित इमारत में १६४६ में राम लला के प्रकट होने से कोई तीन सौ साल पहले भी इस ढांचे में राम की पूजा—अर्चना होती थी। यह पांडुलिपि बांदा के चंद्रहास साहित्य—शोध—संस्थान में उपलब्ध है।

दूसरी किताब इतिहासकार आर नाथ की 'आर्किटेक्चर ऑफ बाबरी मस्जिद' है। इसमें १७१७ का एक नक्शा छपा है। राम—जन्म—परिसर के भवन का भी उल्लेख है और एक भवन से दूसरे भवन की दूरी भी दर्शाई गई है। दूरी बताने के लिए धनुष का इस्तेमाल किया गया है। जन्मभूमि का यह नक्शा जयपुर के सिटी पैलेस में मौजूद है।

इस किताब के मुताबिक मुगल बादशाह औरंगजेब ने अयोध्या में सन् १७१७ में जयपुर के राजा सवाई जयसिंह को १८८३ एकड़ जमीन एक उद्यान और एक बड़ा परिसर बनाने के लिए दी थी, जो कि बाद में रामकोट के नाम से जाना गया। सवाई राजा जयसिंह ने ही राम—जन्मभूमि के जीर्णोद्धार के लिए वह नक्शा बनवाया था। ये दो तथ्य मंदिर—मस्जिद—विवाद के कुछ और रहस्य खोलते हैं।

'आर्किटेक्चर ऑफ बाबरी मस्जिद' में राम—जन्म—स्थान, लक्ष्मण—कुंड, अग्निकुंड जहाँ सीता ने परीक्षा दी थी, चक्रतीर्थ अयोध्या देवी, भरतकुंड, दशरथ महल, जानकी—कुंड, स्वामी राघवदास का स्थान आदि कपड़े पर बने नक्शों में अंकित हैं। सवाई राजा जयसिंह के शासनकाल में ऐसा नक्शा बनाने की प्रथा थी। दूसरी पांडुलिपि बांदा स्थित साहित्य—शोध—संस्थान में रखी है। सन् १७३२ में संत लालदास ने यह किताब लिखी है। इस पांडुलिपि में राम के जन्मोत्सव मनाने का और जन्मभूमि का वर्णन है। किताब की चौपाइयों में कहा गया है कि राम—जन्म—स्थान का जो भी दर्शन करता है, उसे स्वर्ग मिलता है।

इस पांडुलिपि के अनुसार राम—जन्मभूमि—स्थान विघ्नेश्वर के पूर्व की ओर ८००० धनुष पर है, तथा ऋषि—भवन के पश्चिम में लगभग पचास चैन की दूरी पर है। जन्म स्थान के उत्तर की ओर बीस धनुष दूरी पर कैकयी भवन, और तीन धनुष दक्षिण की ओर सुमित्रा महल बताये गये हैं। अवध—विलास नामक रामायण में धनुष की लंबाई साढ़े तीन हाथ बताई गई है। इस ग्रंथ से राम—जन्मभूमि का हिसाब सही निकल रहा है।

— हेमंत शर्मा, जनसत्ता संवाददाता

## हे राम! तुमने फिर आराम हराम कर दिया !

अब्दुरहीम खानखाना बादशाह अकबर के संरक्षक बैरम खॉं के सुपुत्र थे, और अलवर की एक राजपूतनी उनकी माता थी। खानखाना न केवल अकबर के दरबार के

नौ रत्नों में थे, बल्कि बड़े बहादुर सेनापति, दानवीर और भारतीय संस्कृति को पूर्णतया आत्मसात् करनेवाले अद्भुत व्यक्ति थे। नैतिक उपदेशों के लिए हिन्दी काव्य में रहीम के दोहे आज भी प्रसिद्ध हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के प्रति अनुराग के द्योतक उनके कई दोहे तो प्रसिद्ध हैं ही, संस्कृत के श्लोकों में भी उन्होंने अपनी राम-भक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। इस विषय में जो उनके फुटकर पद्य मिलते हैं, उनमें से एक हम यहाँ नीचे दे रहे हैं :-

**अहल्या पाषाणः प्रकृति-पशुरासीत् कपिचमूः**

**गुहोऽभूच्चाण्डालः त्रितयमपि नीतं निजपदम्।**

**अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे**

**क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम्?।।**

“अहल्या पत्थर थी, वानरों की सेना स्वभाव से ही पशु थी, निषाद-राज गुह चाण्डाल था ही, इन तीनों को आप अपने घाम में ले गये। मेरा चित्त पत्थर के समान जड़ है, आपकी पूजा आदि करने में मैं पशुवत् हूँ और कर्मों से तो मैं चाण्डाल हूँ ही। हे राम! तब आप मेरा उद्धार क्यों नहीं करते?”

एक बार महाकवि गंग ने अपने सिर पर मिट्टी डालते हुए हाथी को देखकर रहीम से पूछा—

**धूरि धरत निज सीस पर कहो रहीम केहि काज।**

इसका उत्तर रहीम ने दिया:-

**जा धूरि मुनि-पत्नी तरी, सो दूँडत गजराज।।**

एक बार रहीम कुछ दिन रहने के लिये चित्रकूट चले गये, तो किसी ने उनसे पूछा — “रहीम, तुम मुसलमान होकर यहाँ हिन्दुओं के इस तीर्थ में क्यों चले आये?” रहीम ने मालूम है इसका क्या उत्तर दिया? उन्होंने बड़े सहज भाव से कहा :-

**चित्रकूट में रमि रहे, रहिमान अवध-नरेश।**

**जा पै विपदा परत है, सो आवत यहि देश।।**

इसी प्रकार अन्य अनेक मुसलमान कवियों को उद्धृत किया जा सकता है, जिन्होंने राम और कृष्ण की भक्ति में ऐसे छन्द लिखे हैं कि उनको पढ़कर बड़े से बड़े रामभक्त और कृष्णभक्त का मस्तक उन कवियों के सामने बिना झुके नहीं रह सकता। ऐसे मुसलमान-कवियों की संख्या पचास से भी अधिक होगी, जिन्होंने अपने भक्ति-परक छन्दों से अपने भारतीयता में रचे-बसे होने का प्रमाण दिया है। राममनोहर लोहिया इसीलिये कहा करते थे कि हिन्दुओं को चाहिए कि वे रहीम, रसखान (रुस्तम खाँ, पठान) और “पद्मावत” के रचयिता मलिक मोहम्मद जायसी को अपना पूर्वज मानकर उन पर गर्व करें, और मुसलमानों को चाहिए कि वे राम और कृष्ण को

अपना पूर्वज मानकर उन पर गर्व करें, तथा बाबर, तुगलक, गौरी और नादिरशाह को हमलावर मानें।

हिन्दुओं ने अपनी उदारता का परिचय किस प्रकार दिया है, इसका उदाहरण किसी को प्रत्यक्ष देखना हो तो वह हरिद्वार में स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि द्वारा निर्मित उस सात मंजिले भारतमाता के मन्दिर को जाकर देखें, जिसकी एक पूरी मंजिल में हिन्दू-सन्त-कवियों की मूर्तियों के साथ रहीम, रसखान और जायसी जैसे मुसलमान कवियों को भी सादर प्रतिष्ठित किया गया है।

हिन्दुओं की उदारता और सहिष्णुता के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर भारत में ऐसे मुसलमान-नेता कहाँ हैं जो राम और कृष्ण को अपना पूर्वज मानते हुए उन पर गर्व करते हों, और बाबर जैसे विदेशी आक्रमणकारियों को हमलावर घोषित करने की हिम्मत दिखा सकें? इससे हिन्दू और मुसलमानों के वर्तमान चरित्रगत भेद का स्पष्ट पता लगता है।

“मुस्लिम इण्डिया” पत्रिका निकालने वाले और दिनरात मुस्लिम इण्डिया का स्वप्न देखने वाले श्री शाहबुद्दीन और सैय्यद इमाम बुखारी तथा अब्दुल्ला औबेसी जैसे सियासत-बाज़ मुस्लिम नेता क्या कभी सच्चाई को देख पायेंगे? आज मुस्लिम जनता को गुमराह करने वाले इन नेताओं को तो राम का नाम आते ही पेट में पानी तक पचना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि वे जानते हैं कि जिस दिन हम सच्चाई को स्वीकार करेंगे उसी दिन हमारी नेतागिरी समाप्त हो जाएगी। सम्पादकीय से ऊपर हमने दो पुरानी पाण्डुलिपियों की चर्चा की है, जिनसे राम-जन्म-भूमि और बाबरी मस्जिद के बनावटी तौर पर खड़े किये गये विवाद पर साफ निर्णायक रोशनी पड़ती है। परन्तु जिन्होंने सच्चाई कभी स्वीकार न करने की कसम खा रखी हो, क्या वे लोग कभी सही रास्ते पर आयेंगे?

पक्के राष्ट्रवादी और महाभारत के स्मरणीय पटकथा लेखक श्री राही मासूम रज़ा ने शाहबुद्दीन को इस विषय में एक चिट्ठी लिखी थी, जिसमें कहा गया था कि ‘नगर-पालिका के कागज़ात में वह स्थान स्पष्ट रूप से राम-जन्म-भूमि के रूप में अंकित है, इसलिये उसको नकराने का कोई मतलब नहीं है। मान लो कोई मुसलमान मेहमान मुझसे मिलने मेरे घर आता है, तो नमाज़ का वक्त हो जाने पर यदि वह नमाज़ पढ़ना चाहें, तो मेरे घर में उसे मुझसे पूछना पड़ेगा। हालांकि मैं भी मुसलमान हूँ पर मेरी बिना अनुमति के मेरे घर में वह नमाज़ नहीं पढ़ सकता। यह सामान्य शिष्टाचार की बात है। प्रश्न यह है कि क्या बाबर ने हिन्दुओं की इस भूमि में आकर मस्जिद बनाने की अनुमति ली थी? यदि ली थी तो इसका सबूत चाहिये, और यदि नहीं ली थी तो मस्जिद का निर्माण, यदि उसे मस्जिद कहा भी जाये, सरासर गलत है और अस्तित्व-

शून्य है। 'मुस्लिम इण्डिया' का ख्वाब देखने वाले शाहबुद्दीन ने उस चिट्ठी का जवाब तक देने की शिष्टता नहीं दिखाई। बात वही है कि कोई सच्चाई को न मानने की कसम खाये बैठा हो तो उसका सभ्य समाज के पास क्या इलाज है। ?

**नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्?**

यदि उल्लू को दिन में भी दिखाई नहीं देता तो इसमें सूरज का क्या दोष है ? उत्तर प्रदेश की सरकार डंके की चोट पर कहती है कि हमने अदालत के किसी आदेश का उल्लंघन नहीं किया और न ही गैर-कानूनी काम किया। हाल में ही संसदीय शिष्ट-मण्डल वहाँ गया था। वह स्वयं अपनी आँखों से यह सब प्रत्यक्ष देख आया है। परन्तु भाजपा को अपना सबसे बड़ा दुश्मन समझने वाले विपक्षी दलों के सियासत-बाज़ सच्चाई को कैसे स्वीकार करें ?

हे राम ! तुमने स्वयं तो जीवन भर कष्ट उठाया ही, तभी तो महाकवि भवभूति ने लिखा था : "रामस्य जीवनम् केवलं दुःखायैव" - राम का सारा जीवन केवल दुःखों के लिये ही है। यौवन के प्रारम्भ में ही युवराज के पद पर अभिषिक्त होते-होते १४ वर्ष का वनवास। इस १४ वर्ष के वनवास का अर्थ तो समझते हैं न ? जब किसी को मृत्युदण्ड मिलता है, तब विकल्प के रूप में उसको १४ वर्ष के काले पानी की सजा दी जाती है। इस लम्बी अवधि में कानूनी तौर पर जायज़ छूट मिलते-मिलते वह केवल १० साल रह जाती है, और १० साल के बाद वह कैदी छोड़ दिया जाता है। पर राम के इस १४ वर्ष के वनवास में एक दिन की भी छूट का कहीं उल्लेख नहीं है। लंका-विजय के पश्चात् जब राम अयोध्या की राजगद्दी पर बैठे तो सीता परित्याग की ऐसी दर्दनाक घटना घटी कि उसको लेकर भवभूति ने करुण-रस की धारा प्रवाहित कर दी, जिससे पत्थर भी रो पड़ेंगे। परन्तु हे राम ! तुमने जीवन भर कष्ट उठा कर भी मानवीय आदर्शों का और वैदिक मर्यादाओं का जो आदर्श संसार के सामने उपस्थित किया है, उसी से तो तुम लोकोत्तर बने हो!

आज की दुनिया के लोग भी कम दुःख नहीं उठाते, पर राम ! तुमने कष्ट उठाये थे मानवीय आदर्शों का और धर्म का मानदण्ड स्थापित करने के लिये, और आजकल के लोग कष्ट उठाते हैं नैतिक आदर्शों के विपरीत पतन का मार्ग प्रशस्त करने के लिये।

हाय राम ! तुम कितने निर्मोही हो! तुमने हजारों साल पहले अपने जीवन में भले ही आराम को हराम समझा हो पर तुम्हारे नाम की यह क्या तासीर है कि इतने वर्षों के बीत जाने पर भी तुम्हारा नाम आते ही इन राजनीतिक अखाड़े-बाजों का आराम हराम हो जाता है।

## सुभाषित

अर्थाः पादरजोपमा गिरिणदी-वेगोपमं यौवनम्,  
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं, फेनोपमं जीवनम्।  
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः, स्वर्गार्गलोद्घाटनम्,  
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते॥

- वैराग्य-शतक

धनैश्वर्य पावों में लगी धूलि के समान है, यौवन पर्वतीय नदी के वेग के सदृश है। आयु पानी की चलायमान बिन्दु के समान चंचल है और ज्ञान के समान जीवन (अस्थिर) है। ऐसी स्थिति में जो मनुष्य सात्विक सांसारिक सुख और मुक्तिसुख-रूपी भवन की अर्गला (सांकल) को खोलने में समर्थ धर्म का आचरण नहीं करता वह बुढ़ापे से ग्रस्त होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोक-रूपी अग्नि से जलता रहता है।

## ‘धर्म-निरपेक्षता’ शब्द से अनर्थ

भारतीय राजनीति जिस शब्द के चारों ओर चक्कर काट रही है वह है ‘धर्म-निरपेक्षता’। इस शब्द ने इतना भरमाया है कि समस्त राजनीतिक दल इसी शब्द के चक्कर में उलझे हुए हैं। केवल आज से या आज़ादी के बाद से ही नहीं, अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् सबको इसी शब्द ने व्यामोह में डाल दिया। इस शब्द ने जितना अनर्थ किया है, उतना किसी अन्य शब्द ने नहीं। इसके मूल कारण पर विचार करना होगा।

सबसे प्रमुख कारण है अंग्रेजी के ‘रिलीजन’ शब्द को धर्म का पर्यायवाची शब्द समझ लेना। इस प्रकार धर्म शब्द का अवमूल्यन हुआ और अंग्रेजों की कृपा से धर्म-ग्रन्थ (स्क्रिप्टर) शब्द का भी अवमूल्यन हुआ। परन्तु रिलीजन का अर्थ मज़हब तो हो सकता है, धर्म नहीं। धर्म का संबंध किसी मज़हब, पंथ या संप्रदाय से नहीं है। वह इन सब से ऊपर जीवन के शाश्वत मूल्यों का परिचायक है; जबकि मज़हब, पंथ या संप्रदाय केवल व्यक्ति-केन्द्रित हैं, जिनमें किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा चलाये जाकर उस व्यक्ति पर और उसके वचनों पर ईमान लाने को ही सबसे बड़ा कर्तव्य समझा जाता है। परन्तु उन मज़हबी ग्रंथों में इतनी परस्पर-विरोधी बातें भी हैं कि जहाँ कहीं-कहीं जीवन के शाश्वत मूल्यों का उल्लेख है भी तो वे

व्यक्ति-विशेष के वचन-मात्र बन कर रह जाते हैं और अपने विरोधी वाक्यों से उन शाश्वत मूल्यों को भी अर्थहीन कर देते हैं।

यह स्थिति यहां तक पहुँची कि लोगों ने वेदों को भी इसी प्रकार का संप्रदाय-ग्रंथ मान कर प्रचलित अर्थों में धर्म-ग्रंथ कहना प्रारम्भ कर दिया। जबकि वेद कोई सांप्रदायिक ग्रंथ नहीं है, वह संप्रदायातीत है, देशातीत है और कालातीत है। वह तो विशुद्ध ज्ञान-विज्ञान का ग्रंथ है, और क्योंकि उसमें जीवन के शाश्वत मूल्यों का वर्णन है और वह किसी व्यक्ति-विशेष की वाणी नहीं है, इसलिए वह स्वयं शाश्वत भी है। ऐसा ग्रंथ ही धर्म का सही रूप चित्रित कर सकता है, कोई अन्य सांप्रदायिक ग्रंथ नहीं। वह स्वयं प्रभु का दिया हुआ ज्ञान है जो मानव-सृष्टि के आरंभ में उसी प्रकार दिया गया है, जिस प्रकार मनुष्य को आंख देने से पहले परमात्मा ने सूर्य का निर्माण कर दिया, अन्यथा प्रकाश के अभाव में आंखें अर्थहीन हो जातीं। इसी प्रकार परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि दी है, तो उसके पहले वेद का ज्ञान भी दे दिया, अन्यथा ज्ञान के अभाव में मनुष्य को बुद्धि देना व्यर्थ हो जाता। यह ध्यान रखें कि मूलतः वेद का अर्थ ज्ञान ही है और उसमें जीवन के शाश्वत मूल्यों का ही वर्णन है, जो कि किसी देश और काल के बंधन में नहीं आता। उसी धर्म का साक्षात्कार ऋषियों ने किया है, इसलिए ऋषियों को 'साक्षात्-कृत-धर्माणः' कहा गया है।

धर्म और धर्म-ग्रंथ शब्द के अर्थों के अवमूल्यन का ही यह परिणाम हुआ कि कुछ विद्वानों ने यहां तक कहना शुरू कर दिया कि ऋषि दयानन्द ने ही ईसाई और मुसलमानों की देखादेखी, बाइबल और कुरान की तरह वेद को हिन्दुओं का धर्म-ग्रंथ घोषित कर दिया। परन्तु वेद तो ज्ञानमय है, इसलिए कुछ विद्वानों ने प्रतिक्रिया-स्वरूप उसको भी कुरान और बाइबल की कोटि में रख कर अनर्थ ही किया है। यहीं एक बहुत बड़ा अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिए। वेद क्योंकि ज्ञानमय है, ('सर्व-ज्ञानमयो हि सः'-मनुस्मृति), इसीलिए वह मानव-मात्र का असली धर्म-ग्रंथ कहलाने योग्य है और अन्य तथाकथित धर्म-ग्रंथ व्यक्ति-विशेष पर केन्द्रित हैं, इसलिए वे ज्ञान-विज्ञान के भी शत्रु हैं। यह अन्तर है जो वेद को कुरान और बाइबल आदि मजहबी ग्रंथों से सर्वथा अलग कर देता है।

पिछले दिनों भारत के पूर्व विदेश-मंत्री और हाल में ही पदम्-विभूषण से अलंकृत श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस गलती की ओर ध्यान खींचा है और कहा है कि धर्म-निरपेक्षता शब्द पर खुलकर बहस होनी चाहिए और आर्य समाज ही अपनी शास्त्रार्थ-परंपरा के माध्यम से इस बहस का अगुवा बन सकता है। प्रश्न यह है कि जिस धर्म के आधार पर मानव-जाति और सारा संसार टिका हुआ है, क्या उससे निरपेक्ष हुआ जा सकता है? यह संभव ही नहीं है। इसलिए

संविधान के अधिकृत अनुवाद में 'सेक्यूलर' शब्द का अर्थ धर्म-निरपेक्ष नहीं, पंथ-निरपेक्ष किया गया है। 'सेक्यूलर' के अंग्रेजी शब्द के अनुवाद में जिस किसी ने धर्म-निरपेक्ष शब्द गढ़ा है, उसने महान् भूल की है। वास्तव में सैक्यूलर शब्द का अर्थ न धर्म-निरपेक्ष है, न पंथ-निरपेक्ष। सेक्यूलर शब्द का असली अर्थ है—'लौकिक'। जब राज्य के आदर्श के रूप में सेक्यूलर शब्द उपस्थित किया गया, तब उसका अभिप्राय यही था कि राज्य का काम इस लोक में सुचारु व्यवस्था करना है, उसका परलोक से कोई लेना-देना नहीं है। यह अंग्रेजी के 'थियोक्रैटिक' शब्द के विरोध में प्रस्तुत किया गया था, जिसका अर्थ है—'पारलौकिक'। ये दोनों शब्द उस युग की देन हैं, जब यूरोप में पोप अपने भक्तों से रुपया लेकर उनको हुण्डी लिखकर देते थे और उनसे कहते थे कि मरने से पहले रिश्तेदारों को बता देना कि वे इस हुण्डी को तुम्हारा शव दफनाते समय सिर के नीचे रखना न भूलें। कयामत के दिन जब तुम उठकर खुदा के सामने खड़े होगे, तो तुम्हारे सिर के नीचे रखी इस हुण्डी को देखकर प्रभु यीशु मसीह खुदा से तुम्हारी सिफारिश करेंगे और इस लोक में दिये गये पैसे के हिसाब से परलोक में तुम्हारे लिए सब सुख-सज्जा की व्यवस्था हो जाएगी। यही उनका स्वर्ग था। यह कितना बड़ा पाखण्ड था, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसलिए यूरोप में बौद्धिक और राजनैतिक चेतना के जागृत होते ही परलोक का ठेका लेने वाले पोप के विरोध में विद्रोह अनिवार्य था।

जो धर्म जीवन के शाश्वत मूल्यों का परिचायक है और जिसके आधार पर मानव जाति टिकी हुई है उस धर्म का संक्षिप्त स्वरूप और सार क्या है? महर्षि व्यास ने कहा है—

**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।**

**आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥**

—धर्म के परम सार को सुनिये और सुनकर उसको धारण कीजिए। (धर्म का परम सार है—) अपने को प्रतिकूल (कष्टकारी) लगने वाले आचरण दूसरों के प्रति न करें।

इसीलिए हम कहते हैं कि धर्म का संबंध केवल मानवीय आचरण से है। कोई कर्मकाण्ड, कोई बाहरी चिह्न, कोई पैगम्बर या कोई ग्रंथ कसौटी नहीं है, असली कसौटी मनुष्य की अन्तरात्मा है। जब भी कोई मजहब या पंथ आचरण के बजाय किसी प्रकार के कर्मकाण्ड, पूजा-पद्धति या बाहरी चिह्न को अधिक महत्व देने लगता है, तभी वह सांप्रदायिकता से जुड़ जाता है। यदि धर्म का संबंध आचरण से न होता और स्वयं मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी गवाही न देती, तो सारे संसार का मानव-मात्र कभी किसी एक बात पर एकमत न होता। हम पूछते हैं कि जब

भी कहीं भंयकर तूफान, अकाल, भूकंप या कोई भंयकर दुर्घटना घटित हो जाती है, तो सारे संसार के लोग उस समय पीड़ितों की सहायता के लिए अपने सब सांप्रदायिक और कर्मकाण्ड-गत मतभेदों को भूलकर सहायता के लिए क्यों दौड़ पड़ते हैं? इसलिए न कि मानव की अन्तरात्मा सर्वत्र एक ही ढंग से सोचती है कि यदि मैं इस प्रकार के हादसे में फंस जाता तो मेरी क्या दुर्गति होती? सारे संसार से आई सहायता और सहानुभूति ही उस दुर्गति से त्राण करने में सहायक होती है। तब लगता है कि मानव-मात्र की अन्तरात्मा एक ही ढंग से सोचती है, इसीलिए यह संसार टिका हुआ है। वास्तविकता यह है कि मानव इस धर्म के बिना जी नहीं सकता। अतः मानव के लिए धर्म से निरपेक्ष अर्थात् धर्महीन होना आत्महत्या के समान है।

१० मई १९६२



‘सबसे अधिक गड़बड़ी धर्म और मज़हब तथा पंथों और सम्प्रदायों को एक ही समझने की भूल से हुई है। धर्म न ‘रिलीजन’ है, न मज़हब है, न पंथ है, न सम्प्रदाय। धर्म तो ऐसे शाश्वत सिद्धान्तों का नाम है जिनसे मानव-जाति परस्पर सुख और शान्ति से रहती हुई जीवन को ऊंचाई की तरफ ले जा सके। धर्म नैतिकता और आचरण-प्रधान है, मान्यता-प्रधान नहीं। धर्म व्यक्ति-केन्द्रित नहीं है, सदाचार-केन्द्रित है। धर्म बाह्य आडम्बर या कर्मकाण्ड नहीं। वह व्यक्ति का अपने को और सारे समाज को व्यवस्थित रखने का आदर्श है। धर्म का नाम ‘धर्म’ है ही इसलिए कि वह सारी प्रजा को धारण करता है— ‘धर्मो धारयते प्रजाः’। इसके साथ ही जनेऊ, तिलक, दाढ़ी, चोटी, या बुरका, या खतना, या कोई भी बाहरी चिह्न धर्म का अंग नहीं है। वे विशिष्ट वर्गों की सामाजिक पहचान की निशानियां हो सकती हैं, परन्तु उनका धर्म से कोई वास्ता नहीं है। इसीलिए नीतिकारों ने यह भी स्पष्ट कहा है— ‘न लिंगं धर्मकारणम्’।—कोई बाहरी चिह्न धर्म का कारण नहीं होता।’

—‘व्ययनिका’, पृष्ठ १६८